सम्मेलन-पत्रिका

[भाग—३८, संख्या—३]
आषाढ शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २००९

सम्पादक
श्री रामनाथ 'सुमन'

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

विषय-सूची

श्री विद्यावती कोकिल

आज वासना भक्ति हो गई !

आज वासना भक्ति हो गई।
मेरे सपनों की जिज्ञासा गिरते उठते सत्य बन गई
और कल्पना जीते जीते अब जीवन का तथ्य बन गई
दुर्बलता की अकथ-कहानी कहते कहते शक्ति हो गई
आज वासना भक्ति हो गई।

चंचलता से धीरे धीरे खोल भीति का घूंघट डाला
अल्हड़ता वश जिसे छिपाना था वह भी मैंने कह डाला
खुलते खुलते वही सत्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो गई
आज वासना भक्ति हो गई।

जड़ता भी गतिवान हुई जब मिटने का अधिकार मिल गया
बनते बनते प्रकृति-करों से उस दिन मेरा इष्ट बन गया
क्या बतलाऊं नश्वरता में अब मेरी आसक्ति हो गई।
आज वासना भक्ति हो गई।

मेरे अंतर का गुलाब यह इसी डाल पर तो मुसकाया
कांटों पर बिंध पंखुरियों ने अपना राग पराग बिछाया
कांटों भरी डाल पर अपनी अब मेरी अनुरक्ति हो गई
आज वासना भक्ति हो गई।

आज पवन सी गति है मेरी मुझको है चलना ही चलना
बाधाओं की गति अब केवल मुझको सतत-सतर्कित करना
चलने वाले इन चरणों को आज प्रगति ही मुक्ति हो गई।
आज वासना भक्ति हो गई।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

भारतीय युग-परम्परा में संस्कृत

निर्माण-क्रम

उन सब शक्तियों में, जिनसे मनुष्य बंधा हुआ है और जो उसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्रदान करती हैं, सबसे बड़ी शक्ति 'शब्द' है। इस अर्थ में शब्द की, शब्द-ब्रह्म की पूजा जीवन की सबसे अधिक सर्वव्यापी शक्तियों में एक है। उदाहरणार्थ भौगोलिक रूप में भारत प्रत्येक वस्तु के लिए हिमालय का ऋणी है और सामाजिक संबधों, मन और आत्मा के क्षेत्र, में सब बातों के लिए संस्कृत का ऋणी है।

इतिहास-पूर्व काल में प्रारम्भिक युग के आर्यों ने आर्य-भाषा बनाई। वह अनेक भारतीय और युरोपीय भाषाओं की पूर्वजा है। इस प्रकार की भाषा के निर्माण-क्रम में विशिष्ट अर्थ और व्यंजना वाले शब्दों के रूप में कुछ विचार घनीभूत हो गए। समय की प्रगति के साथ इन शब्दों ने मानव जाति के सामाजिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन को ढाला। भारत मे आर्यों ने प्राथमिक प्राकृत में, जो वे बोलते थे और जो बाद में श्रेष्ठ प्राचीन संस्कृत हो गई, शब्द को असाधारण पवित्रता प्रदान की। ऋग्वेद मे वर्णित पहली ऐतिहासिक घटना दाशराज्ञ, दक्ष राजाओं के युद्ध, के बहुत पहले ऐसा हो गया था। आर्य जातियाँ एक दूसरे से लड़ती थी और अनार्य दस्यु लोगो से लड़ती थीं किन्तु वे मन्त्रगत शब्दों से बंधी हुई थीं। जब प्रार्थनाओं के लयपूर्ण गान में शब्द निकलते थे तब वे मंत्र होते थे, स्वयं देवस्वरूप। जो मत्रों की रचना करते थे वे अर्ध देवता थे, पूजा के योग्य। इस विश्वास ने ही कि पूर्ण शब्द एक देवता है और जो उस पर अधिकार रखता है वह अर्ध देवता है, प्रारंभ ही से संस्कृत को मस्तिष्कों और जातियों को मिलाने वाली एक जीवित शक्ति बना दिया। आर्य लोग संस्कृत बोलते थे। जो कोई भी यह भाषा बोलने लगता था वह विशिष्ट एवं सम्मानित था। और लोग मानते थे कि इसी भाषा के द्वारा उस संस्कृति को प्राप्त किया जाता है। भारत के विभिन्न प्रकार के जीवन में जो कुछ हुआ उसके मूल में यह विचार रहा है। ऋग्वेद के मंत्र वस्तुतः कर्मकाण्ड को प्रभावशाली बनानेवाले विशिष्ट शैली के गीति-काव्य थे किन्तु सबसे पहले के मंत्रों से दसवें मंडल के सबके बाद तक यह स्पष्ट दिखाई देता है कि जो भाषा बोलचाल की थी और जिसमें प्रयोग में, प्रगतिशील परिवर्तन हो रहा था उससे इसकी भाषा में विशेष अन्तर न था। परन्तु जाति को एक सूत्र में मिला रखनेवाले मंत्र ही थे। अथर्ववेद, जो अपने मूल रूप में वस्तुतः ऋग्वेद से कम प्राचीन नहीं, अपने वर्तमान रूप में

बाद में आया, उस समय जब बोलचाल की भाषा वैयाकरण पतंजलि के समय की भाषा से बहुत भिन्न न थी, किन्तु जब स्तोत्रों को पौरोहित्य द्वारा ऋषि रूप दिया गया तो उन्हें मंत्रों को पवित्र पुरातन रूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मणग्रन्थ संस्कृत के लोकप्रिय रूप में एकमात्र वास्तविक गद्य माने जाते हैं। उपनिषद् भी गुरु-शिष्य की बोली में चिन्मय-प्राणपूर्ण चिन्तन के वाहक हैं।

उन सदियों में जो सप्तसिन्धु में आर्य शक्ति के प्राधान्य लाभ करने और ईसा पूर्व १५०० में महाभारत के युद्ध होने के बीच में गुजरीं, प्राथमिक प्राकृत, जन-भाषा के रूप में विकसित होकर प्राचीन शुद्ध संस्कृत के बहुत निकट आ गई और उसका रूप भी बहुत कुछ वही हो गया। अब इस भाषा को विभिन्न वर्गों को ऐक्य सूत्र में बाँधने का गौरव प्राप्त हुआ क्योंकि आर्य संस्कृति की केन्द्रीय एवं मुख्य भावना ऋत —जीवन का प्रधान नियम —थी। और संस्कृत क्रियाशील ऋत थी, वह शक्ति जो लोगों के हृदयों को मिलाती, उन्हें ऊंचा उठाती और मनुष्य को देव-स्तर पर लाती थी।

दृश्यप्रतीक

भारत-युद्ध से मगध के उत्थान (ईसा पूर्व १२०० से ईसा पूर्व ७००) तक, जब प्रामाणिक इतिहास का प्रारंभ होता है, इस विचार की जाति के अन्तःकरण पर प्रधानता रही। सिन्धु की और गंगा तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियों में रहनेवालों के लिए संस्कृत प्रति दिन के प्रयोग में आने वाली शक्तिमयी जीती-जागती भाषा ही न थी; वह इसके अतिरिक्त कुछ और भी थी। वह साहित्य, दर्शन और न्याय की भाषा थी, जिसे देवता बोलते थे और जिसे देवता सुनते थे। वह सर्वश्रेष्ठ रूप में मध्य देश में बोली जाती थी—जहाँ पवित्र ब्राह्मण रहते और शिक्षा देते थे। वह उन कुटियों में पढ़ी जाती, बोली जाती और सिखाई जाती थी जो आर्यावर्त की सीमाओं को पूर्व और दक्षिण में आगे बढ़ा रही थीं। जहाँ संस्कृत बोली और सिखाई जाती वहीं आर्यावर्त हो जाता था।

ऋग्वेद के मन्त्र ईश्वरीय शब्द हो गए थे, ये शब्द देवता-स्वरूप, रहस्यपूर्ण शक्तिवाले, अपनी ध्वनि और अपने उच्चारण से ही पूज्य थे। यह भाषा युगों की ऐसी शिला थी जिसकी ओर समाज और समस्त जीवन को भावना को प्रतिमूर्ति और घनीभूत प्रतीक तथा स्फूर्ति के लिए मुड़ना पड़ता था।

रीति-विधान संबंधी साहित्य अलंघ्य था। महाभारत का विकास जीवन के विस्तृत साहित्य के रूप में हो रहा था। महाकाव्यों का वीरचरित्र वर्णन, राजाओं और ऋषियों की, पवित्र नदियों और पवित्र स्थानों की गाथायें, व्यावहारिक बुद्धि-संबंधी विद्वतापूर्ण शिक्षायें, ईश्वरत्व-प्राप्ति के लिए मनुष्य के प्रयत्नों के बारे में दार्शनिक और नैतिक गभीर विचार, ये सब उसमें थे। जाति का संपूर्ण अन्तःकरण स्पष्ट और एक कर दिया गया था। आख्यानों की रचना कवियों और कथा कहनेवालों के द्वारा उस समय के सर्वसाधारण श्रोताओं के लिए की गई। कई गाथाएं उस समय जनता में चालू कहानियों से ली गई। कई सौ वर्ष तक वे दरबारों, गोष्ठियों और लोगों के समूहों में स्फूर्ति देने या कोई नैतिक बात बतलाने के लिए कही जाती थी।

धर्म-सूत्र साहित्य और न्याय-विधान संबंधी सबसे प्राचीन पुस्तक मनुस्मृति उन लोगों के लिए थी जो संस्कृत बोलते थे। उस समय के बौद्धिक विचार उपनिषद और गीता में थे। गीता मूल रूप में ईसा पूर्व ७ वीं सदी से बहुत पहले बन चुकी थी। इन ८०० और कुछ अधिक वर्षों में संस्कृत का विकास तीव्र गति से हुआ। उसकी उन्नति न केवल विशाल शिक्षित समाज की बोलचाल की और साहित्यिक भाषा के रूप में वरन् आर्य-संस्कृति के दृश्य-प्रतीक एवं साधन के रूप में भी हुई। यह संस्कृति दूर दूर तक चारों ओर तेजी से फैल रही थी और सब जातियों का उत्थान तथा संगठन कर रही थी।

मगध-साम्राज्य के युग में, ईसा पूर्व ७०० से ईसा पूर्व १५० तक उत्तर के विभिन्न विभागों में लोग प्राकृत बोलते थे, यह निस्सन्देह है। दक्षिण में उनकी अपनी बोलियाँ थीं। बुद्ध और जैन धर्मों के शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना और लोगों के लिए रुचिकर जन-कहानियों की रचना प्राकृत में हुई किन्तु यह जनता की ही बोली थी। संस्कृत उच्च ढंग से विचारों को प्रकट करने वाली भाषा थी। इन दोनों की पारस्परिक प्रतिक्रिया से संस्कृत धनी हुई और प्राकृत भाषाओं ने रूप लिया तथा विस्तार किया, किन्तु संस्कृत ईश्वरीय शक्ति की भाषा स्वीकार की जाती थी—जहाँ वह सीखी जाती थी, लोग सभ्यता की माप में ऊपर उठ जाते थे और वहीं आर्यावर्त की उत्पत्ति हो जाती थी।

रचनात्मक शक्ति

ईसा पूर्व १५० और ३२० ई० के बीच भारत न उत्तर-पश्चिम और पश्चिमी भारत में विदेशी राज्यों का उत्थान देखा और मध्य तथा दक्षिण भारत में उत्पन्न ऐसा शक्तिशाली राजनैतिक और धार्मिक आन्दोलन जिसने विदेशी राज्यों को हटा दिया और फिर धर्म की स्थापना की। इस राष्ट्रीय पुनरुत्थान को स्फूर्ति देनेवाली, उसका प्रतीक और साधन, संस्कृत ही थी।

इस आन्दोलन के सिरमौर सातवाहन और नाग थे। संस्कृत को इन्होंने संभवतः राज्य-भाषा बनाया, क्योंकि दूसरी सदी के निकट से शिलालेख संस्कृत में लिखे जाने लगे। शैवों और वैष्णवों ने भी इस आन्दोलन से शक्ति पाई और उनका प्रभाव बढ़ा—इनके गुरुओं ने संस्कृत को देवताओं की भाषा स्वीकार कर उसे उच्चतम स्थान दिया।

इस समय तक ऋत—जीवन का नियम—धर्म हो चुका था और संस्कृत कार्य रूप में धर्म थी। सब उच्चतर बौद्धिक और नैतिक जीवन का विकास और प्रकटीकरण संस्कृत के ही द्वारा हुआ।

ईसा पूर्व ६ वीं सदी में बुद्ध और महावीर ने प्राकृत में प्रचार-कार्य किया। ईसा की प्रारंभिक सदियों में महायान बुद्धों ने अपने धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों को संस्कृत में लिखा और ६ वीं सदी में सिद्धसेन दिवाकर को जैन शिक्षाओं को संस्कृत भाषा के गौरव से मंडित करना पड़ा।

गुप्त लोगों की उन्नति के स्वर्ण काल में संस्कृत ऐसी प्रमुख शक्ति बन गई जो जाति के समस्त सामूहिक अन्तश्चेतना में प्रविष्ट हो गई और संस्कृति के आधारभूत मूल्यांकन के प्रकाश में उसे संगठित कर दिया। और ऐसा केवल उत्तर में नहीं, दक्षिण में तथा उन्नतिशील उप-निवेशों के लिए भी हुआ। इस काल में साहित्यिक भाषा विस्तार, रूप और गुण में बहुत बढ़ी-चढ़ी हो गई। कालिदास की रचनायें और महाभारत का अंतिम संस्करण जिसमें एक लाख श्लोक हैं, इसी काल के हैं। रामायण को पूर्ण रूप और सौन्दर्य का काव्य स्वीकार किया गया। गुप्त सम्राटों के साहित्य और धर्म के उदार संरक्षक होने से उनके राज्य में संस्कृत भाषा की शक्ति विशेष बढ़ गई—वह एक शक्तिशालिनी व्यापक संस्कृति का रूप, उसकी वाहिका और साधन हो गई। यह संस्कृति सनातन धर्म कहलाई। सस्कृत की शिक्षा के स्थान बढ गये। संस्कृत के कवियों और विद्वानो के संरक्षण मे राजा लोग एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगे। वह जीवन के गौरव और शोभा की प्रतीक बन गई। दूर भागो में रहनेवाले अशिक्षित और देहाती लोगो की कल्पना और मुहाविरे भी इसकी भव्यता से पूर्ण हो गए।

उत्तर भारत मे यह सस्कृत विद्वत्ता, उच्च जीवन और सम्मान की भाषा थी। शिक्षा प्रमुख रूप में संस्कृत ही द्वारा दी जाती थी। दक्षिण में यह सास्कृतिक स्फूर्ति देनेवाली थी और प्रारंभिक कन्नड, तेलगू तथा मलयालम को साहित्यिक रूप और तथ्य इसने दिया। देश भर में संस्कृत बहुत अधिक बोली जाती थी। शकुन्तला के सहज स्वाभाविक सौन्दर्य का चित्रण और शान्ति पर्व के ज्ञान का प्रकटीकरण उन लोगो द्वारा हुआ जो शक्ति के प्राणपूर्ण माध्यम में बहुत बड़ी जनता के लाभ के लिए गाते और बोलते थे और उन्हें इससे सीधे प्रभावित करते तथा स्फूर्ति देते थे।

संस्कृत इस काल में विद्या की देवी, सरस्वती, भारती थी। जहाँ भी उसकी पूजा होती थी वहाँ एक नई रचनात्मक शक्ति उत्पन्न हो जाती थी—विभिन्न वंशों और बोलियों के लोग एक सी चेतना, कल्पनाओं, विचारों और मूल्यनिरूपण द्वारा एक मे मिल जाते थे। धर्म-चक्र आगे बढ़ता जाता था, किन्तु उसकी पहिया गढ़ी गई मुख्यतः सस्कृत से ही; जहाँ भी संस्कृत पढ़ाई या पढ़ी जाती थी वहाँ इस चक्र की गति बढ़ जाती थी।

ऐतिहासिक आकृतियाँ

५५० ई० के निकट से, जब गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ, ९५० ई० तक, जब प्रतिहारों का साम्राज्य लुप्त हुआ, उत्तरी भारत में कन्नौज की, जो साम्राज्य की राज्यधानी था, प्रधानता रही। इस युग की मुख्य विशेषताएँ जिनसे भारतीय इतिहास की आकृति बदली ये थीं—उत्तर भारत में ऐसे साम्राज्य का उत्थान जिस पर प्रधानतया उत्तर पश्चिमी भारत का आधिपत्य था, दक्षिण का संपूर्ण भारत की राजनीति में एक शक्तिशाली प्रतिनिधि की भाँति स्थान प्राप्त करना और तीनों मुख्य जातियों का एक दूसरे से अलग हो जाना। शक्तिमान शासकगण संस्कृत भाषा-क्षेत्र से बाहर रहनेवाली असंस्कृत जातियों से भी अपने सहयोगी और अनुयायी पाते रहते थे। वर्णाश्रम धर्म जैसा अपने मूल रूप में समझा जाता था वैसा नही रहा। पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य

उस एकता के अभिन्न अंश थे जो इन सबके साथ-साथ अध्ययन करने, मिल जुलकर ज्ञान प्राप्त करने और संस्कृत के प्रति पूज्य भाव से पैदा हुई थी। इनमें आपस में विवाह करने की स्वतंत्रता की ही रुकावट थी। गुप्तों के समय में ब्राह्मणों को जो महत्व प्राप्त हुआ उससे वे उच्च शिक्षा के विशेष अधिकारी बन गए। साथही संस्कृत भाषा विशेष उच्च संस्कृति की भाषा हो गई। उससे नीचे दरजे पर प्राकृत और अपभ्रंश जनता के साहित्य की भाषायें हुईं। सर्वसाधारण की बातचीत का माध्यम अविकसित बोलियाँ थीं। इन सबका भी अधिक महत्व हो गया। किन्तु संपूर्ण देश में संस्कृत की प्रधानता रही। राजशेखर (काव्य मीमांसा) के अनुसार वह देश भर में बोली जाती थी: किन्तु लाट (गुजरात) उससे घृणा करता था; मारवाड़ राजपूताना और सौराष्ट्र में लोग इसे अपभ्रंश के साथ मिला देते थे; मध्य देश में और गौड में यह शिक्षित लोगों की भाषा थी। फलतः संस्कृत साहित्य एक विशिष्ट उच्चता और विद्वत्ता के भाव से संपन्न हो गया जिसमें विद्वान् लोग विद्वानों के लिए ही लिखते थे। कविगण का शिक्षा-क्रम विस्तृत हो गया। वे शिक्षा की कई शाखाओं नाटक, पद्यशास्त्र, कोश, रचनाशास्त्र आदि को सीखते थे और नियत नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। स्वभावतः उनकी रचनायें सर्वसाधारण श्रोताओं के विचार से नहीं होती थीं और उनमें सीधी अनुभूति की स्फूर्ति न रह गई थी। उस युग का, जो ६ वीं सदी के अन्त में सुबन्धु के साथ प्रारंभ हुआ, बाण प्रधान आदर्श और नमूना था। जीते जागते साहित्य की रचना प्राकृत और अपभ्रंश में हो रही थी किन्तु वह संस्कृत के प्रभाव से कभी नहीं बचा। इस प्रकार संस्कृत देवताओं की भाषा हो गई, जो संपूर्ण जीवन की साधना से प्राप्य थी। उसके प्रयोग का क्षेत्र कम हो गया पर सब प्रभाव के अन्तिम स्रोत की शक्ति होने से उसका महत्व बढ़ गया। प्रत्येक के लिए, जो जीवन में सम्मान का स्थान चाहता था, वह नितान्त आवश्यक थी। जब महमूद गजनी ने सदियों का जादू तोड़ दिया, एक के बाद दूसरे राज्य को नष्ट कर दिया, तब भी स्मृति के नियमों का ही मान जीवन में था। महाभारत और रामायण लोगों के मन की बिनावट थीं। कविगण और विद्वान् लोग साहित्यिक और व्याकरण संबंधी कलाबाजी में लगे रहे। भोजदेव और हेमचन्द्र की भांति के बहुशास्त्रज्ञ लोगों ने विश्वकोष सम्बन्धी पुस्तिकायें संस्कृत और उससे मिली जुली भाषाओं में लिखीं। देश के विभिन्न भागों में कितने ही विश्व-विद्यालयों और पाठशालाओं द्वारा एक बोलचाल की भाषा की भांति संस्कृत का अध्ययन चलता रहा। सब विद्वत्तापूर्ण बातें उसी में होती थीं। विशिष्ट पंडितों के विद्वत्तापूर्ण सम्भाषणों से, जो संस्कृत में ही होते थे, राज-गृह गूंजा करते थे। अलाउद्दीन खिल्जी के साथ संस्कृत एक नई स्थिति में आई। उसने उत्तर भारत के अनेक विश्वविद्यालयों को नष्ट कर दिया। जहाँ भी मुस्लिम राज्य हुआ वहाँ संस्कृत संरक्षकता से वंचित हो गई। ऐसे विद्वान् लोग, जिनके जीवन की साँस संस्कृत थी, दूर दूर के गाँवों में भाग गये। वहाँ अपने घरों म या छोटी पाठशालाओं में उन्होंने अपनी प्रिय शिक्षा की ज्योति जलाये रखी। उन सब लोगों के समूह के लिए जो विपत्ति में पड़कर नष्ट-भ्रष्टता से संतुष्ट न होने वालों के रूप में भाग रहे थे, संस्कृत प्रकाश-स्वरूप, शक्तिस्वरूप, भव्य भविष्य की आशा, मुक्ति का मार्ग, और स्वयं उनके जीवन से कुछ अधिक रही।

विद्वान् लोगों ने अपने आपको साधारण जनता की, जो संस्कृत न जानती थी, उदारता पर डाला। वे संस्कृत से निकली हुई भाषाओं में जनप्रिय साहित्य की रचना में लगे। इसका फल कला का वह बड़ा जागरण-काल हुआ जिसका १५ वीं सदी से प्रारंभ हुआ और जिसमें भक्ति और सन्त सम्प्रदाय विशेष रूप से सामने आये। महाभारत, रामायण, भागवत और गीत गोविन्द के अध्ययन और उनके आधार पर रचनायें होने से आत्मिक और नैतिक पुनरुत्थान के विचार फैले। हिंदू राज्यों में संस्कृत के विद्वानों का संरक्षण एक मुख्य कर्तव्य हो गया। यद्यपि सर्व-साधारण का संस्कृत से सीधा संबंध बराबर कम होता गया, प्रत्येक छोटे कस्बे या बड़े ग्राम में एक संस्कृत पाठशाला चली और उसके विद्यार्थियों का सम्मान किया गया। उत्तर भारत में ब्रज भाषा सबसे अधिक ऐसा माध्यम हुई जिसके द्वारा संस्कृत का प्रभाव साहित्य में सब देश में फैला।

पुनरुत्थान

१९ वीं सदी के आरंभ से अगले काल का प्रारंभ हुआ। पाठशालाओं और वहाँ से निकलने वाले लोगों में ही संस्कृत बोलचाल की भाषा की भांति सीमित हो गई थी। प्रत्येक शिक्षित स्थान के लिए पाठशाला चलाना गौरवप्रद था और ब्राह्मणों की बहुत बड़ी संख्या पुरोहितों, ज्योतिषियों, पंडितों या पौराणिकों की भांति आवश्यक थी। उनके बनाये शास्त्रों से संस्कृत का प्रभाव बना रहा, यद्यपि उनमें जहाँ प्रत्येक शास्त्र से उद्धरण देनेवाले बहुत पंडित थे वहाँ देहात में ऐसे पंडित भी थे जो विवाह या अन्त्येष्टि क्रिया के समय खंडित श्लोकों को ही किसी तरह कह सकते थे। जो लोग संस्कृत का अध्ययन नहीं करते थे वे भी अपनी भाषा में उन बहुत से ग्रन्थों को जानते थे जो संस्कृत के महान् ग्रन्थों के आधार पर बनाये गये थे। इस भांति संस्कृत देश भर में एक बन्धन बनाये रखने का बहुत बड़ा साधन थी।

जब मुगल साम्राज्य मुर्झा गया तब छाया की भांति राजनैतिक बन्धन का अवशेष लुप्त हो गया। जो कुछ बचा वह उस संस्कृति द्वारा प्रदत्त एकता थी जो संस्कृत से निकली थी और उसी पर निर्भर थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के विद्वान् अधिकारीगण बहुत प्रारम्भ से संस्कृत पर मुग्ध हो गए थे। उन्होंने बड़ी पाठशालाओं को बनाये रखने का प्रयत्न किया। संस्कृत की हस्तलिपियों का उन्होंने संग्रह किया, उनका सम्पादन किया और उन्हें प्रकाशित किया। और जब १९ वीं सदी के मध्य में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई तब उन्होंने इस देश में संस्कृत को दूसरी प्रधान भाषा बनाया।

भारतीय विश्वविद्यालय संस्कृत के पुनरुत्थान के जन्म-स्थान हुए। पश्चिमी संस्कृति के साथ इसने आधुनिक भारतीय जागरण-काल के आगमन, बोलचाल की सब भाषाओं के बढ़ने और उनके ऐश्वर्य तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास को अग्रसर किया। संस्कृत देवताओं की भाषा रही है, क्योंकि यह अपने साथ उनका वरदान भी लाई है।

पिछली सदी में भारत की एकता का आधार अंग्रेजों के शस्त्र थे और संस्कृत की संस्कृति द्वारा ऐसी सचेत एकता हुई जिससे वे शस्त्र न रहे। ऐसे मनुष्यों के जो दो अलग

अलग उद्गम स्थानों से अपने अन्तर्मन में प्रेरणा पाते थे ये दो समूह विभाजित हो गए। भारत में आजकल लोगों की सामूहिक अन्तःचेतना का प्रतिनिधित्व उसी से होता है जिसके लिए संस्कृत है, उनकी सबसे अधिक सचेत एकता जीवन के उसी मार्ग में है जिस पर संस्कृत की संस्कृति का आधिपत्य है। आजकल संस्कृत का अध्ययन धार्मिक भाव से विश्वविद्यालयो, कालेजों और हाई स्कूलो में व्यापक रूप में होता है। उन पाठशालाओं की सख्या १०००० से कम न होगी जिनमें आजीवन संस्कृत के अध्ययन में लगे हुए लोग उसका प्रयोग जीवित माध्यम के रूप मे करते है। देश भर में संभवतः २५००० से अधिक लोग उसमें धारा प्रवाह बोलते हैं। ५ लाख से अधिक लोग पुरोहिती के कार्य में लगे हैं और संस्कृत का वे जो भी प्रयोग कर सकते है उससे देवताओं को मनुष्यों के निकटतर लाते हैं। २० करोड़ के निकट लोगो के जीवन मे उत्पत्ति ,विवाह, मृत्यु, प्रार्थना, और रीति-रस्म के अवसरों पर संस्कृत के पवित्र पठन के मधुर उच्चारणों की प्रतिध्वनि होती है। लोगों के जीवन की बिनावट में महाभारत, रामायण और भागवत की प्रासंगिक कथाओं, पात्रों, भावनाओ और मुहावरों का अविच्छेद्य रूप है। २५ करोड़ से अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भारतीय भाषाये संस्कृत के शब्द कोष से बढ़ी है और बढ़ रही है।

राष्ट्रीय एकता का विकास

भारत अपनी दृढता और सांस्कृतिक शक्ति संस्कृत से ही पा सका और इन्हें संस्कृत से ही रख सका। थोड़े से अपवादो के साथ, हमारे देश की सब पीढ़ियों के महान और श्रेष्ठ लोगों ने जिनके द्वारा संपूर्ण जीवन प्रभावित हुआ, अपनी पूर्णता संस्कृत की सहायता और उसके उद्देश्य से ही प्राप्त की। हाल के भूत काल मे भारत, पराधीन जाति का होने पर भी, अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को उन्ही विद्वानों द्वारा पा सका जिनकी दृष्टि संस्कृत के अध्ययन से मुख्यतः लाभान्वित हो चुकी थी। अधिकाश सभ्य राष्ट्रों के विश्वविद्यालय सस्कृत के अध्ययन मे रुचि रखते है और उससे स्फूर्ति पाते है। संस्कृत और उससे घनिष्ट रूप से संबंधित पाली द्वारा दक्षिण पूर्व एशिया, चीन और जापान की महती सांस्कृतिक कड़ी का बन्धन बना है। प्रो० नार्मन ब्राउन ने, जो अब पेन्सिलवैनिया विश्वविद्यालय मे दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन के संचालक है, मुझसे पिछले साल कहा था कि जो विद्यार्थी दक्षिण-पूर्व एशिया में जाने की तैयारी करते है उन्हें यह पता लगता है कि वहाँ के वास्तविक तथ्य को सस्कृत के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता। पाकिस्तान की राजकीय भाषा उर्दू फारसी-अरबी के शब्द कोश के बावजूद एक भारतीय आर्य भाषा है और अफगानिस्तान की भाषा पश्तो भी ऐसी ही है। फारसी संस्कृत से संबधित है। लैटिन और ग्रीक और उनसे निकली हुई भाषाओं मे भी भारतीय आर्य एकता का सूत्र है। और उपनिषदों की अभिलाषाओं का, महाभारत की वीर चरित्र वर्णन संबंधी शक्ति का, रामायण की महत्ता का, कालिदास और भागवत के सौंदर्य का, धम्मपद और भगवद्गीता की प्रेरणा का सच्चा मान हमारी जाति को भीतरी शक्ति के पथ पर आगे बढ़ाने में सहायक होगा। इस प्रकार संस्कृत हमारी

एकता, संस्कृति और शक्ति का स्वाभाविक आधार होने से यह अधिकार रखती है कि उसके भविष्य के बारे में सावधानी से सोचा जावे।

प्रथम—उच्च स्थानप्राप्त वे लोग, जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया है और उसे हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक पूर्ण तत्व मानते हैं, संस्कृत को अपने विशेष उन्नत स्थान पर बनाये रखने के उद्योगों में असंगठित हैं।

द्वितीय—हमारे विश्वविद्यालयों में और उच्चतर शिक्षा-प्रणाली में, अधिकतर पश्चिम से ली हुई, यह समझ बढ़ रही है कि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन व्यर्थ है। इस समझ का आधार अज्ञान है। क्योंकि भारत के लिए संस्कृत ऐसी प्राचीन भाषा नहीं है जो केवल शिक्षित मनुष्यों की निपुणताओं में वृद्धि करती है बल्कि वह राष्ट्र के विकास में एक शक्तिशाली कड़ी है।

तृतीय—राजकीय वर्ग का न रहना, जो अपने अनेक दोषों के होते हुए भी पाठशालाओं को उदार संरक्षण देता था; ये पाठशालाएँ परम्पराप्राप्त संस्कृत शिक्षा के केन्द्र रही हैं जिनमें संस्कृत बोलचाल की भाषा की भांति जीवित रखी गई। धार्मिक श्रद्धा का अभाव जिससे पाठशालाओं से निकलने वाले लोगों की जीवन-वृत्ति में बाधा पड़ती है।

वर्तमान अध्ययन

संस्कृत के विषय में यह श्रद्धा कि वह आधुनिक संसार में जीवन प्रदान करनेवाली शक्ति है, इसे पश्चिम से प्रभावित कुछ लोग पूर्व युग को फिर से लाने का प्रयत्न समझते हैं। इनकी सन्तानें अपनी माताओं के मुँह से उन महाकाव्यों की बातें नहीं सीखतीं, जिन्होंने भारत को बनाया और उसको जीवित रखा। इस तथ्य से बढ़कर दुःख की बात और नहीं हो सकती कि भारतीय शासन-सेवा के उम्मेदवारों में, जिनमें से भारत के भावी शासक होते हैं, ६० प्रतिशत श्रेष्ठ माता कुंती के बारे में या सम्मान और उदारता की आत्मा कर्ण के बारे में जानते ही नहीं।

स्वाधीनता के उदय के साथ और मुख्यतः संस्कृत से निकली हुई हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने की स्वीकृति के साथ यह सोचा जा सकता था कि संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन हमारी सरकारों द्वारा प्रथम उत्तरदायित्वों में स्वीकार किया जावेगा। उत्तर प्रदेश की सरकार की भांति कुछ सरकारों ने ऐसा किया है। किन्तु दूसरों को समय या इच्छा का अभाव रहा। किन्तु यह केवल समय का प्रश्न है। संस्कृत के आधारभूत महत्व ने, जो हमारे जीवन के भीतर मौजूद है, अपने आपको शासकों के उस वर्ग के द्वारा प्रकट करने का कोई अवसर नहीं पाया जो स्वतन्त्रता के संघर्ष से सामने आ गया। किसी को भी जिसकी दृष्टि ठीक है यह स्पष्ट दिखाई देगा कि हमारी स्वतन्त्रता का कोई अर्थ न होगा यदि भारत ने अपनी आत्मा खो दी। यदि उसने अपनी शक्ति का मुख्य उद्गम स्थान छोड़ दिया तो हमारा कोई भविष्य न होगा। मैं एक पग और आगे जाऊंगा—संसार की मुक्ति तभी संभव है जब वह संस्कृत के मूल उद्देश्यों की ओर अधिक सचेष्ट हो—अहिंसा और सत्य का अनुगमन, अस्तेय, अपरिग्रह का प्रभाव और मानव व्यक्तित्व की पूर्णता में, नैतिक क्रम की प्रधानता में तथा मनुष्य के देवत्व की वास्तविकता में विश्वास।

केवल शिक्षा या अनुसंधान की भांति नहीं बल्कि विश्व भर के लिए मूल्यवान सांस्कृतिक शक्ति की भांति संस्कृत के अध्ययन को शक्तिशाली बनाने के लिए उस सब शक्ति और उन सब साधनों को ग्रहण करना होगा जिनका भिन्न भिन्न ढंगों से संस्कृत की उन्नति करने में प्रयोग हो रहा है। इसके साथ सर्वसाधारण की रुचि और विस्तृत आश्रय चाहिए। ऐसा न हो कि अत्यधिक विधि-व्यवस्था या केन्द्रीय शक्ति में सीमित होकर संस्कृत स्वेच्छानुरूपता के तत्व को खो बैठे। कार्य जीवन को शक्ति देनेवाला होना चाहिए, शासन या व्यवस्था करनेवाला नहीं।

साथ ही जो लोग संस्कृत मे रुचि रखते हैं उन्हें नीचे लिखी दृष्टियों से संस्कृत के अध्ययन की दशा पर ध्यान देना चाहिए—

(१) हमारे विश्वविद्यालयों और उच्चतर शिक्षा-व्यवस्थाओं में संस्कृत का स्थान।
(२) केन्द्रीय और राजकीय सरकारों द्वारा संस्कृत के अध्ययन के लिए दी हुई सहायता।
(३) विश्वविद्यालयो की उपाधियो के समान शास्त्री-संबंधी उपाधियो को स्वीकृति कराना।
(४) पाठशालाओं की अवस्था, उनकी आर्थिक दशा और उन्हें आर्थिक सहायता देने का उपाय और उनके विद्यार्थियो के भविष्य के कामों की संभावनाये।
(५) संस्कृत के अनुसंधान की स्थिति।
(६) जो लोग निजी तौर से संस्कृत के अध्ययन के लिए चिन्तित है उनके लिए आसान परीक्षाओ के कार्यक्रम का होना।
(७) जो लोग संस्कृत मे रुचि रखते हैं उनकी सभाओं का होना वाञ्छनीय है।
(८) संस्कृत साहित्य और विशेषत. महाकाव्यों को जनता की शिक्षा का एक तत्व बनाने के उपाय और साधन।

हमें सबसे पहले शिक्षा-विधि मे संलग्न लोगो से, प्रोफेसरों, स्कूल के अध्यापकों, वकीलों, साहित्य और शिक्षा के व्यक्तियो से, जिनमें से अधिकतर संस्कृत मे किसी न किसी तरह रुचि रखते है, प्रार्थना करनी है। उन्ही लोगों का काम है कि इस आंदोलन के साथ लोगों का सचेत सहयोग हो जावे। विश्वविद्यालयों में और कालेजों में शिक्षा-विधि में संलग्न लोगो, अध्यापकों और विद्यार्थियों के ऐसे समूह पाये जा सकते हैं जो अपने आपको अध्ययन के केन्द्र बना लें। स्वभावत: प्रत्येक पाठशाला संस्कृत का केन्द्र है। मंत्रियो, उपकुलपतियों और उन उच्च अधिकारियों का, जो संस्कृत मे रुचि रखते है, बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और यदि उनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में प्रभावदायक ढंग से कार्य करें तो हम उस जीवनप्रद शक्ति की अब भी रक्षा कर सकते हैं जो संस्कृत ने हमें अनेक युगों में दी है।

श्री राहुल सांकृत्यायन

तिब्बत में तीसरी बार प्रवेश

अब तो मैं तीसरी बार तिब्बत में प्रवेश कर रहा था, और इस रास्ते यह दूसरी बार जा रहा था। पहिले प्रवेश में मुझे उतने ही कष्टों का सामना करना पड़ा था जितना कि हनुमान जी को लंका-प्रवेश में।

२१ अप्रैल (१९३६) को हम बहुत दूर नहीं गये। डाम गांव के सामने तेजी गंग (रम-इलि) में रात के लिए ठहर गये। पहली यात्रा में हम कई दिनों के लिए डाम गांव में ठहरे थे। अबकी गाव से पहले पड़नेवाले लोहे के झूले को पार कर अभी सबेरा ही था, जब कि गांव में पहुंच गये। यह लोहे का झूला सतयुग का कहा जाता है। जंजीरों का पुल है, और काफी लंबा होने की वजह से बीच में पहुँचने पर खूब हिलता है। अभयसिंह जी को पहिले पहल ऐसे पुल से वास्ता पड़ा था इसलिए उनके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे, मैंने कहा आँखें मूदकर चले आओ। चला आना तो था ही, क्या लौटकर काठमाण्डू जाते? गाव से पार होने लगे तो हमें अपनी पहिली यात्रा की सहायिका यलनीवाली साधुनी अनीबुटी एक घर में बैठी दिखाई पड़ी। सात ही वर्ष तो हुए थे, उसने देखते ही पहिचान लिया। वह और डुप्पा लामा का एक और शिष्य वहाँ थे। उनसे थोड़ी देर बातचीत हुई। पहली यात्रा में तो मैं तिब्बती भाषा नाममात्र को जानता था लेकिन अब भाषा की कोई कठिनाई नहीं थी।

अब मोटकोशी के किनारे-किनारे कभी उसके एक तटपर कभी दूसरे तट पर आगे बढ़ना था। रास्ते में कहीं भोजन किया और कहीं दूध पीने को मिला। तिब्बती भाषाभाषी क्षेत्र में यात्री को ठहरने का कुछ सुभीता जरूर हो जाता है। वहाँ चौके चूल्हे की छूत का सवाल नहीं, न जनाने मर्दाने का ही। इसलिए घर के चूल्हे पर जाकर आप अपनी रोटी बना सकते हैं। खाने पीने की जो भी चीज घर में मौजूद है उसे पैसे से खरीद सकते हैं, और बहुत कम ऐसे गृहपति मिलेंगे जो ठहरने का स्थान रहने पर भी देने से इन्कार करें।

अप्रैल का अन्तिम सप्ताह था। हम ७-८ हजार फुट की ऊंचाई पर चल रहे थे। यहाँ लाल, गुलाबी, और सफेद कई रंग के फूलोंवाले गुनास (बुराँश) के पेड़ थे। बहुत से पेड़ तो आजकल अपने फूलों से ढँके हुए थे। बुराँश को कोई कोई अशोक भी कहते हैं, लेकिन यह हमारा देशी अशोक नहीं है। अंग्रेजी में बुराँश को रोडेन्ड्रन कहते हैं। एक वृक्ष तो अपने फूलों से ढँका हुआ इतना सुन्दर मालूम होता था कि मै थोड़ी देर उसके देखने के लिए ठहर गया। कैमरा से फोटो लिया लेकिन फोटो में रंग कहाँसे आ सकता था? रास्ता चढ़ाई का और बहुत कठोर था। उस दिन

रात को छौकसुम् में ठहरना था। यहां तक हमें मोटकोशी पर नौ बार पुल पार करना पड़ा। तातपानी अगर नैपाल के भीतर का तप्त कुण्ड था, तो यह तिब्बत के भीतर का। हम छ बजे के करीब ठिकाने पर पहुँच गये, उस वक्त थोड़ी बूंदा बाँदी थी। नौ दस हजार की ऊंचाई पर ऐसे मौसिम में सरदी का अधिक होना स्वाभाविक ही था। मुफ़्त का गरम पानी मिलता हो, तो मैं स्नान करने से कैसे रुक सकता था? लेकिन सरदी के मारे अभयसिंह जी ने तप्त कुण्ड जाने की हिम्मत नही की।

ञेनम

अभी हम जंगल और वनस्पति की भूमि में थे, लेकिन कुछ ही मीलों बाद उसका साथ चिरकाल के लिए छूटनेवाला था। तातपानी से यहाँ तक मोटकोशी के दोनों किनारों के पहाड हरे भरे जंगलो से भरे थे, वृक्षों में छोटी बाँसी, बुराँस, बंज (बजराठ, ओक) और देवदार-जातीय वृक्ष बहुत थे। यहां का जंगल इसलिए भी सुरक्षित रह गया क्योंकि यहां जनवृद्धि का डर नही है। तिब्बती लोगों में पांडव (सभी भाइयों का एक) विवाह होता है, एक पीढ़ी में दो भाई हैं, दूसरी में दस, तो तीसरी पीढ़ी में फिर दो तीन हो जाने की संभावना है; इस प्रकार न वहां घर बढ़ता है न खेत या संपत्ति बढ़ती है। आदमियों के न बढ़ने के कारण जंगल काटकर नये खेतों के आबाद करने की भी आवश्यकता नहीं होती। यदि हम नैपाल के भीतर होते और दूसरी जाति के लोग यहां बसे रहते तो आस पास के पहाड़ों में और भी कितने ही गांव बसे दिखाई पडते। छाकसुन से भात खाकर साढ़े आठ बजे रवाना हुए थे। आगे रास्ता कठिन था और कहीं कहीं बरफ भी थी, दो एक मर्तबे नदी को भी आर पार करना पडा। यह नमक का मौसिम था। नेपाल के इधर के पहाड़ों में तिब्बत का नमक चलता है जो सस्ता भी होता है। नेपाली अपनी पीठपर मक्की, चावल या कोई दूसरा अनाज लादकर ञेनम पहुँचते हैं, और यहां से नमक लेकर लौट जाते हैं। इधर के गांव में हर जगह बौद्ध चैत्य (स्तूप) या मंत्र खुदे हुए पत्थरों की दीवारें (मानी) खड़ी रहती हैं। गांव के पास आमतौर से वह देखे जाते हैं। नमकवाले अपनी टिकानों में पाखाना जाने के लिए सबसे अच्छा स्थान इन्हीं चैत्यों और मानीयों को समझते हैं। बस्ती के आसपास तो गंदगी का ठिकाना नही। ढाई बजे हम ञेनम पहुँचे, और साहू ज्ञानमान के बतलाये अनुसार वहां साहू योगमान के यहां ठहरे। ञेनम से पहिले ही पहाड़ी दृश्य तिब्बत का हो जाता है, अर्थात् बिलकुल नंगे पहाड़, जिनके ऊपर न कहीं वृक्ष है न वनस्पति, यहां तक कि झाड़ियां भी नही दिखाई पड़तीं। ञेनम के पास पहुंचते समय हमें एवरेस्ट पर्वत भी दिखाई पडा, जो स्वच्छ नीले आकाश में बहुत समीप मालूम होता था। सरदी काफी थी। अभयसिंह को पहिले पहल उससे मुकाबिला पड रहा था, इसलिए वह उसे अधिक महसूस करते थे। साहू योगमान ने बतलाया कि घोड़ों के लिए तीन-चार दिन ठहरना पड़ेगा।

ञेनम में तिब्बत के मजिस्ट्रेट (जोंङ्पुन) रहते हैं। १८ वीं सदी के मध्य में जब कि तिब्बत का शासन वहाँ के एक मठाधीश दलाई लामा के हाथ में आया, तब से शासन-व्यवस्था में एक नई चीज यह कायम की गई, कि हर एक पद के लिए जोड़ा अफसर हों, जिनमें से एक भिक्षु

और एक दूसरा गृहस्थ। कभी कभी दोनों गृहस्थ भी दिखाई पड़ते हैं, यदि कोई मंत्रियों के अनुकूल भिक्षु नहीं मिला। ञेनम में दो जोंङ्पुन थे, जिनमें एक जोङ्-शर (पूर्व वाला जोङ्) और दूसरा जोङ्नुब (पश्चिमवाला जोङ्पुन) कहा जाता था। हम २४ अप्रैल को १० बजे जोंङ्-नुब के पास गये। कितनी ही देर तक बातचीत होती रही। जोङ्पुन लोग सरकारी काम करते हुए अपना व्यापार भी किया करते हैं, जिसके लिए उनके पास अपने घोड़े खच्चर होते हैं। हम तो इस खयाल से गये कि उनसे किराये पर घोड़ा मांगेंगे, लेकिन कुछ देर बात करने के बाद उन्होंने कहा—नेपाली छोड़कर यहां से आगे किसी को जाने देना मना है। मैंने इस बात की ओर ख्याल नहीं किया था। समझता था कि मैं दो बार तिब्बत हो आया हूं और ल्हाशा के बड़े बड़े आदमियों से मेरा परिचय है, साथ ही यह जोङ्पोन अभी अभी धर्मा साहु के घर पर मिल चुका है इसलिए वह क्यों रुकावट डालेगा? दरअसल वह रुकावट पैदा भी नहीं करना चाहता था, लेकिन सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेना नहीं चाहता था इसलिए उसने कहा कि आप मेरे साथी जोंङ्शर से भी आज्ञा ले लें। उसने यह भी कहा कि हम स-स्क्या तक के लिए घोड़ा भी दे देंगे। मैं वहां से जोङ्-शर के पास गया। वह उस वक्त भोजन कर रहा था। जोङ्पोनों की तनख्वाह २०-२५ रुपये से ज्यादा नहीं होती होगी, लेकिन वह अपने जिले के बादशाह होते हैं, ल्हासा दूर होने से उनके न्याय और अन्याय की शिकायत भी कोई नहीं कर सकता और तिब्बत में कोई लिखित कानून है नहीं, सब फैसला अपनी विवेक बुद्धि से ही करना पड़ता है। हरेक मुकद्दमे में वादी और प्रतिवादी दोनों को जोङ्पोन की पूजा करनी पड़ती है, मांस मक्खन और अनाज तो बिना पैसे का उनके पास भरा रहता है। ञेनम अब भी कम से कम नेपाल से आनेवाले माल की व्यापारिक मण्डी है। यहां से चावल, चूरा और कितनी ही चीजें तिब्बत जाती है। इस व्यापार में जोङ्पोन लोगों का भी हाथ होता है जिससे उनको काफी आमदनी होती है, इसलिए २०-२५ रुपया मासिक पानेवाले आदमी की स्त्रियां चीनी रेशम और मोती-मूगों से लदी हों तो आश्चर्य क्या? उनका रोब-दाब भी किसी बादशाह से कम नहीं होता। मुझे पहिले तो बैठने के लिए कहा गया, इसके बाद कल आने का हुक्म हुआ। मेरी यात्रा फिर कुछ संदिग्ध सी हो गई। जोङ्शर के बारे में लोग कह रहे थे कि ल्हासा का आदमी है और बड़े कड़े मिजाज का है।

अगले दिन (२५ अप्रैल) को फिर १० बजे जोङ् शर के दरबार में गये। अपनी छपी हुई पुस्तकें और लाशा के कई मित्रों के चित्रों को दिखलाकर यह विश्वास दिलाया कि दो बार हम राजधानी हो आये है, और यह भी बतलाया कि हमारे जाने की मंशा है प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों का उद्धार। अन्त में जोङ्-शर ने कहा—

वैसे तो आचारा (भारतीय) साधु आदि को हम ऊपर नहीं जाने देते किन्तु आप धर्म कार्य के लिए जा रहे हैं, इसलिए हम दोनों जोङ्पोन बात करके सब बन्दोबस्त कर देंगे।

खैर, निराश होने की बात नहीं मालूम हुई। भारतीयों के लिए इतनी कड़ाई होने का कारण भी है। पिछली शताब्दी में जब कि अंग्रेजों की इच्छा भारत के उत्तरी सीमान्त को पार करके और आगे हाथ मारने की थी उनके गुप्तचर बनकर कितने ही भारतीय तिब्बत गये थे

जिनके कृत्यों के कारण तिब्बती लोगों के दिलों में भारतीयों के प्रति अविश्वास पैदा हो गया। उन्हें क्या पता था कि मैं अंग्रेजी गुप्तचर नहीं हूँ, इसलिए कड़ाई होनी ही चाहिए थी। उसी दिन शाम को जोङ् नुब की ओर से चावल और मांस की भेंट मेरे पास आई। अभयसिंह जी के साथ मैं भी कुछ सौगात लेकर उनके पास पहुंचा। दोनों ने बात कर ली थी। जोङ् नुब के पास खच्चर भी मौजूद थे, लेकिन वह कह रहा था कि केवल तीन खच्चरों को अलग देना हमारे लिए मुश्किल है। जब पच्चीस खच्चरों का माल आ जायगा, तो हम भेज देंगे। खैर यात्रा का तो विघ्न टल गया सिर्फ यात्रा के दिन की बात थी। यह भी मालूम हुआ कि पच्चीस खच्चरों का माल आगया है, इसलिए अधिक दिन ठहरना नहीं पड़ेगा। ३-४ नेपाली भी शिगर्चे को जानेवाले थे। हमने २५ को तैयारी शुरू कर दी, लेकिन २८ को प्रस्थान करना पड़ा। हमें स-स्क्या जाना था, जो कि शिगर्चे से तीन चार दिन के रास्ते पर पहिले ही पड़ता था। लेकिन तीन खच्चर वहां हमें छोड़कर लौट तो नहीं सकते थे, उन्हें तो आखिर जाना पड़ता शिगर्चे तक ही, इसलिए दोनों जगहों का किराया सवारी के खच्चर के लिए पचास साङ् (प्राय. १२ रुपया) और ढुलाई के खच्चर का ४० साङ् तय हुआ। हमने अपना पैसा नेपाल में साहू धर्ममान के यहां रख दिया था। समझा था आगे तो उनकी कोठी या दूसरी दुकानों में पैसा मिल ही जायगा, इसलिए साथ में ढोने की क्या आवश्यकता? लेकिन यहां योगमान साहू रुपया देने में हिचकिचाने लगे, यद्यपि उनके लिए हम चिट्ठी लाये थे। बहुत कहने सुनने पर १०० रुपये के भोटिया (तिब्बती) सिक्के उन्होंने दिये। चीजों के खरीदने के लिए अब हमारे पास काफी पैसा नहीं था। स-स्क्या में न जाने कितने दिन ठहरना पड़े और पैसा देनेवाले नेपाली सौदागर शिगर्चे में ही मिलनेवाले थे।

तिङ्री की ओर

२८ अप्रैल को ९ बजे हम आगे के लिए रवाना हुए। हमारे और अभयसिंह के अतिरिक्त चार नेपाली सवार भी साथी थे जिनमें शिगर्चे के नेपाली फोटोग्राफर तेजरत्न तथा उनकी तिब्बती स्त्री भी थी। जोङ् का नौकर घोड़े पर खच्चरों की देख भाल के लिए एक आदमी के साथ था। पूरा काफिला हो गया था। तिब्बत तथा मध्य एशिया के और देशों में भी सवारी के घोड़ों पर खुर्जी में १५-२० सेर और भी सामान लटकाने का इन्तजाम रहता है, इसलिए खाने-पीने की कितनी ही चीजें हमारी खुर्जियों (ताडू) में थीं। सामान के लिए दो गदहे थे, जिन्हें जोङ्पोन् का नौकर बेगार में जहां तहां ले लिया करता था। हमारा खच्चर बूढ़ा था, और अभयसिंह को भी एक दुबला घोड़ा मिला था। खैर हमें घुड़दौड़ तो करनी नहीं थी, और अभयसिंह को घुड़-सवारी से पहिले पहल वास्ता पड़ रहा था, इसलिए दुबला घोड़ा उनके लिए अच्छा ही था। ञेनम् से आगे बढ़े तो रास्ते में सैकड़ों चमरियां नमक लादे हुए ञेनम् की ओर जाती दिखाई पड़ीं। अप्रैल का महीना बीत रहा था, लेकिन अभी यहां जुताई का काम जरा ही जरा लगा था। तिब्बत के चारों तरफ के ऊंचे पहाड़, विशेषकर हिमालय, समुद्र से उठे बादलों को तिब्बत की ओर बढ़ने नहीं देते, जिसके कारण बरफ और वर्षा दोनों ही वहां कम होती है। शायद इस वक्त हम १२ हजार फुट के ऊपर चल रहे थे। बरफ आस पास की पहाड़ियों पर कहीं कहीं दिखलाई पड़ती थी।

१ बजे के करीब सकागुम्बा को पार करके २ बजे हम चाङ्-दो-ओमा गाँव में पहुंचे। शायद आज १० मील आये होंगे। जोङ्-शर भी ल्हासा जा रहा था, वह भी अपने कई अनुचरों के साथ यहां पहुंचा। सारे गाँव के नर-नारी उसकी अगवानी के लिए आये। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि चाङ्-दो-आमा के किसानों के लिए जोङ्-शर किसी राजा से कम नहीं था। लोगों को उसके खाने-पीने, भेंट-पूजा करने, उनके नौकरों और जानवरों को खिलाने पिलाने में अपना तन बेंचकर इंतिजाम करना पड़ा। कितना दुस्सह शासन उस समय तिब्बत में था, यह कहने की बात नहीं है। हाल में २३ नवम्बर (१९५१) को ल्हासा की लिखी चिट्ठी मुझे ४ दिसम्बर १९५१ को मसूरी में मिली। उसमे लिखा है "चीना लोगों के ल्हासा पहुंचने से पहिले तक मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लोग कम्युनिस्टो से बहुत आशा किये हुए थे। लेकिन चीना लोग बड़ी संख्या में आने लगे और खाने-पीने की चीजें बहुत महंगी होने लगी। अब तो वह बहुत निराश है और चीनियों को शंका की दृष्टि से देख रहे है। कूटा (अफसर) लोग तो चीनों से घृणा कर रहे हैं, लेकिन लाचार होकर चुपचाप बैठे है।" कूटा लोग भला क्यों चीनियो के आने तथा नवीन तिब्बत के आविर्भाव को अच्छी आँखो से देखेंगे? कहाँ सारे तिब्बत के लोगों को लूटमार कर वह मौज उड़ाना और कहाँ अब नये शासन में चारों ओर से रास्ता रुका होना! जोङ्-शर की यात्रा को देखने से ही हमें मालूम हो रहा था, कि उनका शासन अत्यत असहनीय ही नहीं है, बल्कि कूटा (अफसर) लोग दोनो हाथ से जन साधारण का कितना शोषण कर रहे थे। जोङ्गोन् को अपने घोड़ों-खच्चरों के लिए घास चारे पर भी पैसा खर्च करने की जरूरत नही थी। ऊपर से वह बेगार में जितना चाहता उतने घोड़े, गधे या चमरियां ले सकता था। वह मौज अब भला कहां मिलनेवाली है! लेकिन आज से १५ वर्ष पहिले १९३६ में जोङ्-शर और उसके भाई-बन्धुओं को क्या मालूम था कि आगे क्या आनेवाला है।

२९ अप्रैल को भोजन करके हम १० बजे रवाना हुए। शायद हमारे घोड़े भी बेगार के थे, इसलिए वह बदलते रहते थे। अब अभयसिंह की जरा हिम्मत भी खुल गई और वह घोड़ा दौड़ाते हुए आगे बढ़ गए। घोड़ेवाला बहुत नाराज होने लगा। खैरियत यही हुई, कि उसने गाली-गलौज नहीं की। नैपाली व्यापारियों को तिब्बती लोग साधारण बनियों की तरह कायर समझते है, इसलिए दो गाली दे देना भी उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं है। उस दिन हम रात को थूलुंतङ् में थोङ्ला डांडे से कितने ही मील पहिले ही रात के लिए ठहर गये। उँचाई १४-१५ हजार फुट होगी, फिर सरदी तो काफी होनी ही चाहिए। अभयसिंह जी नींद न आने की शिकायत कर रहे थे, और इससे पहिले उन्हें सिर दर्द भी हो चुका था। अधिक उँचाई पर कमजोर हृदयवालों के लिए प्राणों का खतरा होता है। हमें भी कुछ चिन्ता होने लगी, लेकिन यह जानकर धैर्य हुआ कि उनके हृदय को साँस लेने में कोई कष्ट नहीं है।

३० अप्रैल को सूर्योदय के साथ-साथ हम आगे के लिए रवाना हुए। साढ़े आठ बजे एक जगह चाय पीने के लिए थोड़ा रुके और १२ बजे थोङ्ला के ऊपर पहुँच गये। भारत से तिब्बत की ओर जानेवाले हिमालय के जितने बड़े बड़े डांडे हैं, उनमें से यह एक और १७ हजार फुट के

करीब ऊंचा होगा। डांडे के पास हम जितने ही पहुंचते जाते थे, उतना ही खड्डे में अधिक सफेद बरफ फूली सी दिखाई पड़ रही थी। लेकिन, जैसा कि पहले कहा, वर्षा-बादल के कम आने के कारण रास्ते मे बहुत बरफ नही थी। डांडा पार करके हलकी उतराई उतरते हुए कोई पांच घटे मे हम लङ्कौर पहुंचे। अभयसिंह जी यहां न्यायाचार्य से वैद्याचार्य बन गये। इधर कोई अस्पताल या चिकित्सा का इतजाम सरकार की ओर से नही है इसलिए बीमार आते जाते लोगों से ही अपनी चिकित्सा कराते हैं। घर के मालिक को आतशक (गर्मी) की बीमारी थी, अभयसिंह ने उनको कोई दवाई दी। किसी को सिर दर्द था, उसे भी दवाई दी।

"यानि कानि च मूलानि येन केनापि पिंशयेत्।
यस्य कस्यापि दातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति।"

खैर, अभयसिंह जी कोई खतरे की दवाई नही दे रहे थे। लङ्कौर और तिङ्-रि में हम १२-१३ हजार फुट से नीचे नही थे, लेकिन गरमी मालूम हो रही थो, जो कि मई के अनुरूप नही थी।

७ बजे चाय पी कर हम फिर रवाना हुए। जोङ्पोन् साहब का साथ था, इसलिए उनके अनुसार ही हमें भी काम करना पड़ता था। साढ़े तीन घंटा चलकर साढे दस बजे हम तिङ्-रि पहुंच गये। तिङ्-रि नैपाल-तिब्बत तथा लदाख-ल्हासा वणिक्-पथ का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक और सामरिक केन्द्र है—है नही, था कहना चाहिए, क्योंकि कलिङ्पोङ्-ल्हासा रास्ता खुल जाने पर इस वणिक्-पथ का उतना महत्व नही रहा। इसी के कारण, अब तिङ्-रि की रौनक जाती रही। तिङ्-रि का अर्थ है समाधि-पर्वत। यहाँ पचासों वर्गमील का सुविस्तृत मैदान है, जिसके एक कोने पर, किन्तु पर्वत मालाओं से हटकर, एक छोटी पहाड़ी है, जिसका ही नाम तिङ्-रि है। पहाडी के ऊपर जोङ् (गढ़) है, जहां पर कि इस इलाके का जोङ्पोन रहता है। बस्ती पहाड़ी के एक तरफ है, जिसके पास से रास्ता जाता है। जोङ्पोन् को अपने भाई जोङ्पोन से मिलना जुलना था, इसलिए वह यही ठहर गये। उनके ठहरने पर हमें भी ठहरना जरूरी था, क्योंकि बेगार के घोड़ों को हमें किराये पर दिया गया था। लङ्कोर और तिङ्-रि दोनों ही भारत से तिब्बत जाने वाले पुराने रास्ते पर हैं, इसलिए यहा पुराने अवशेष होने ही चाहिए। लङ्कोर के मन्दिर में भारतीय सिद्ध फ-दम-पा सङ् ये (सन्-पिताबुद्ध) अपने भारत, तिब्बत और चीन की अनेक यात्राओं में ठहरा था, वहां के मन्दिर में उसकी मूर्त्ति मौजूद है, यद्यपि मठ अच्छी हालत में नहीं है। तिङ्-रि भी अपने बिहार के लिए कोई प्रसिद्धि नहीं रखता। तिब्बत की कृषि योग्य भूमि का बहुत बड़ा भाग विहारों (मठों) और सामन्तों की जागीरों में बँटा हुआ है, सीधे सरकार की जमीन बहुत ज्यादा नही है। हां, सरकार अपने जागीरदारों से नकद और जिन्स के रूप में भूकर लेती है तथा अपनी जागीर की बड़ाई छुटाई के अनुसार जागीरदारों को आवश्यकता पड़ने पर अपने यहां से सेना के लिए जवान देना पड़ता है। वर्तमान शताब्दी के आरंभ तक तो उन्हें गोली-बारूद भी देनी पड़ती थी, लेकिन पुराने हथियारों के बेकार होने के कारण अब उन्हें देना नहीं पड़ता। तिङ्-रि के

पास ही एक बड़े विहार का शी-का है। शी-का (शिङ्-का) का मतलब है जागीरदार की अपनी खिरात या क्षीर। अपने शीकों में किसी होशियार कारिंदा को भिक्षु भेज देते हैं, वही सारा इंतजाम करता है। पहिली यात्रा में यहां के ऐसे ही एक शी-का में एक कारिंदा का मैं मेहमान हुआ था।

अभी ताजा मांस का मौसिम नहीं आया था। जाड़ों के आरंभ होने पर घास-चारे की कमी के कारण पशु दुबले होने लगते हैं, इसलिए जाड़ा आरंभ होने से पहिले ही पशुओं को मारकर कई महीनों के लिए मांस को रख लिया जाता है। जाड़े भर में भेड़ या याक ज्यादा सूख जाते हैं, इसलिए उनको मारना अच्छा नहीं समझा जाता, फिर इसके बाद तिब्बती पंचांग का चौथा महीना शाका-दावा (शाक्य मास) आ जाता है जो बुद्ध के जन्म, निर्वाण और बुद्धत्व प्राप्ति का महीना होने के कारण बहुत पुनीत माना जाता है, इसलिए उस समय प्राणि-हिंसा करना बुरा समझा जाता है। उसके बाद से फिर ताजा मांस मिलना शुरू हो जाता है। इस प्रकार आज-कल सूखा मांस ही मिलता था। तिब्बत में शत प्रतिशत लोग मांसाहारी हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ मांस बहुत सुलभ है। बड़े घरों में सूखा मांस हमेशा तैयार रहता है, क्योंकि किसी मेहमान के खातिर के लिए मांस अत्यावश्यक चीज है। सूखा होने पर उसे पकाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। उसके बड़े बड़े दो एक टुकड़े ऊंचे पाँव की तश्तरी पर रखकर नमक और चाकू के साथ मेहमान के सामने रख दिये जाते हैं। इसके साथ किसी छोटी चौकी पर लकड़ी के सुन्दर सत्तूदान में सत्तू और सुन्दर चीनी प्याला चाय के लिए रखा जाता है। तिङ्रि जैसे स्थानों में मांस का मिलना उतना कठिन नहीं है। लेकिन मांस खाना और मांस पकाना जैसे एक चीज नहीं है,उसी तरह मांस काटने की भी एक विधि है। जैसे छुरी-काँटे के पकड़ने का एक सर्वमान्य नियम है, उसी तरह मांस काटने के लिए इन देशों में लम्बे तजुर्बे के आधार पर कुछ नियम बना लिये गये हैं, जिनके अनुसरण न करने पर लोग आपको अनाड़ी समझकर मन में हँसेंगे, जिसका अर्थ है कि आप अभद्र भी हैं, और साथ ही डर है कि आप अपने को कहीं काट न लें। उस दिन मांसो-दम के लिए मांस काटने का काम अभयसिंह ने लिया था, जिसमें वह अपना अंगूठा काट बैठे। बायें हाथ में मांस खण्ड लेकर दायें हाथ में चाकू पकड़कर काटते वक्त चाकू की धार अपनी ओर नहीं बल्कि बाहर की ओर रखनी चाहिए, यह भी एक शिष्टाचार है। हमने सारा दिन तिङ्-रि मैदान को देखने और लोगों से बातचीत करने में गुजारा। जिसको हम सत्संग और संलाप कहते हैं, उसका मौका तिब्बत में बहुत कम जगहों पर मिलता है। तिब्बती लोगों से घनिष्टता पैदा करने के लिए शराब, नाच और गाना आवश्यक हैं, यदि कोई विद्याप्रेमी विद्वान् हो, तो उनसे संलाप द्वारा भी समीपता पैदा की जा सकती है। पहिले साधनों से मैं वंचित था। मैदान में इस समय अभी पीली-पीली घास दिखाई पड़ती थी। दूर से देखने पर तो मालूम होता था, कि घास उस पर मखमल की तरह बिछी है। परन्तु नजदीक जाने पर वह हाथ हाथ भर की घास कहीं-कहीं तो पाँच-पाँच हाथ के अन्तर पर थी। वर्षा के दिनों में सारा मैदान हरा-भरा मालूम होता होगा, इसमें संदेह नहीं। पिछली यात्रा में जब हम इधर से जा रहे थे, तो यहाँ जंगली गधों (क्याङ्) के झुंड चरते दिखाई पड़े थे, लेकिन इस वक्त वह यहाँ नहीं थे। भूमि में जहाँ तहाँ स्वतः

पानी निकल रहा था, अक्तूबर के महीने में भी कितनी ही जगहों पर ऐसा देखा जाता है। इस मैदान में वैसे दस-गुने बीस-गुने खेत बढ़ाये जा सकते हैं, लेकिन नैपाल की तरह यहाँ जनवृद्धि की समस्या नहीं है। साथ ही आस-पास के पहाड़ों में वनस्पति के अभाव के कारण प्राकृतिक स्रोत से खाद्य मिलने की संभावना नहीं है, आप उतनी ही भूमि में कोई चीज उगा सकते हैं, जितनी मे गोबर या मेंगनी डाल सकें। पानी का प्रबन्ध आसानी से हो सकता है।

स-स्क्या की ओर

२ मई को चाय और प्रातराश करके ८ बजे हम लिङ्-रि से रवाना हुए। चार घंटे में नेमू गाँव में पहुँचे। आजकल खेतों में जताई का काम हो रहा था। आस-पास के पहाड़ों पर जहाँ-तहाँ कुछ बरफ दिखाई पड़ती थी। सबेरे के समय कहीं कहीं पानी की नालियां बरफ बनी हुई थीं। रास्ते में एक जगह चाय पान करके तीन बजे हम चाकोर पहुँचे। तिब्बत में जगह जगह ध्वस्त गाँवों के चिन्ह मिलते हैं। कहीं कहीं बड़े गाँव सिकुड़कर छोटे हो गये हैं, जिसके कारण आसपास खण्डहर दिखाई पडते हैं। चाकोर से कुछ पहिले कितने ही घरों के ध्वंसावशेष दिखाई पडे, जहाँ पर चीन के प्रजातन्त्र घोषित होने (१९११) से पहिले चीनी सैनिक रहा करते थे। थोङ्-ला के परले पार का एक सैनिक गढ़ तो अब भी लोगों के रहने के काम में आ रहा था। प्रजातन्त्र घोषित होने पर जो गड़बड़ी और कमजोरी पैदा हुई, उसके कारण चीनी सेनाओं को उधर से हट जाना पडा और यहाँ के मकान खण्डहर हो गये। अब फिर चीनी या चीन-शिक्षित तिब्बती सेनायें अपने दक्षिणी सीमान्त की देखभाल के लिए जगह-जगह तैनात हो रही हैं, क्या जाने इस वक्त फिर इन खंडहरों का भाग्य जगे। लेकिन चीन को या नवीन तिब्बत को अपनी सेनाओं को इस तरह जगह जगह रखने के लिए यह जरूरी होगा कि वहाँ अनाज की उपज बढ़ाई जाय। अभी कुछ ही हजार आदमियों के आने से ल्हासा और आसपास के स्थानों में अन्न का दाम जो बढ़ा है, उसके कारण लोगों में घबड़ाहट पैदा हुई है। इसलिए तिब्बत को आहार में स्वावलम्बी करना, आहार को प्रचुर परिमाण में पैदा करना, राजनीतिक दृष्टि से भी अत्यावश्यक है। यह कोई मुश्किल काम नहीं है, क्योंकि जगह जगह पर बहती हुई नदियों से अच्छी नहरें निकाली जा सकती हैं। जब तक कोई खनिज खाद का स्रोत नहीं मालूम होता तब तक वहाँ के गोबर और मेंगनी का ठीक तौर से प्रबन्ध करके खेतों को उर्वर बनाया जा सकता है। तिब्बत के इतिहास और भूभाग के देखने से मालूम होता है कि कृषि और बागवानी में शताब्दियों पहले जो कुछ प्रगति हुई थी उसे भी लोगों ने छोड़ दिया और गतानुगतिक बनकर कम से कम उपजाकर ही लोग सन्तुष्ट रहने लगे। इसका एक कारण भूप्रबन्ध भी था। अब असली खेती करनेवाला भूमि का मालिक है ही नहीं, बल्कि अपने मालिक का अर्धदास भर है। और जो भी खेत से उपज होती है, उसमें से उसे नाममात्र ही मिलता है, तो वह क्यों दिलोजान से मेहनत करेगा?—नवीन तिब्बत में भूप्रबन्ध का परिवर्तन सबसे पहिले होगा, इसमें तो शक ही नहीं है। नये प्रबन्ध से जहाँ पुराना उच्च और मध्यम वर्ग नये शासन से घोर असंतोष प्रकट करेगा, और हर तरह से गड़बड़ी मचाने

की कोशिश करेगा, वहां देश की अस्सी और नब्बे फीसदी अर्धदास जनता नये शासन की भक्त बन जायगी ।

चाकोर किसी समय बड़ा गाँव ही नहीं था, बल्कि पास के पहाड़ पर खड़ी दीवारें यह भी बतला रही थीं, कि यहां पर एक स्थानीय राजा रहता था। तेरहवी से सोलहवीं सदी तक सारा तिब्बत छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, उस समय कभी-कभी दो-चार गाँव के भी राजा होते थे। लेकिन सत्रहवीं सदी के मध्य में मंगोलों ने इन छोटे छोटे राज्यों को खतम करके सारे तिब्बत को एक करके दलाई लामा को दे दिया। छोटे-छोटे राजाओं के समाप्त होने पर उनकी राजधानियों का श्रीहीन होना स्वाभाविक था। सत्रहवीं सदी के आरंभ में यदि हम चाकोर में आते, तो वह इस अवस्था में नहीं मिलता। चाकोर में आकर हम एक अच्छे घर में रात्रि-विश्राम के लिए ठहरे थे। सोचा था, कि अब जोङ्-पोन् से पिंड छूटा, लेकिन घंटे भर बाद वह सदल-बल पहुँच गये और हमें अपना स्थान छोड़कर एक घुड़सार में भागना पड़ा। इसी घुड़सार में महापण्डित, न्यायाचार्य, और डेबा (खच्चरवाले) सभी एक बराबर रात्रि-विश्राम के लिए ठहरे। पिस्सू और जूओं से जो घबराता हो, उसे तिब्बत की यात्रा करने का नाम भी न लेना चाहिए। वह अच्छे घरों में भी मिलते हैं। घुड़सार में उनके अतिरिक्त गंदगी, खटमल आदि दूसरे शत्रु भी मौजूद थे। खैरियत यही थी, कि अभी मक्खियों की दिग्विजय-यात्रा नहीं शुरू हुई थी।

किसी भी नये देश में जाने पर वहां के आचार-विचार को बड़ी सावधानी से सीखना हरेक यात्री के लिए आवश्यक है, और तिब्बत जैसे पिछड़े देश में तो उससे और भी सावधान रहने की आवश्यकता थी। लेकिन अभयसिंह जी इसकी परवाह नहीं करते थे, जिसके कारण कभी कभी झगड़ा उठ खड़ा होने की नौबत आती थी। खच्चरवाला चाहे अपने मालिक की दृष्टि में बिलकुल तुच्छ हो, लेकिन हम परदेशियों के सामने वह अपने को बराबर ही नहीं बल्कि घर में होने के कारण बड़ा समझता था। उसकी दृष्टि में जो भी अयुक्त बात हो, उसे सहन करने के लिए वह तैयार नहीं था। उसके साथ नेपाली सौदागरों का दब्बूपन तिब्बत के लोग भली प्रकार जानते हैं, इसलिए भी वह शेर होने के लिए तैयार थे। हमको हर जगह झगड़ा पैदा करके अपनी शान रखने की जरूरत नहीं थी, हम यह नहीं कर सकते थे कि उनको मौका न दें। जब कोई ऐसी बात होती, और हम नरमी से समझाने की कोशिश करते, तो अभयसिंह जी इसे अपना अपमान समझते ।

३ मई को चाय सत्तू खाकर सबेरे ७ बजे हम रवाना हुए। बहुत मना रहे थे कि जोङ्पोन से किसी तरह पिंड छूटे, लेकिन अभी भाग्य में वैसा बदा नहीं था। उसके साथ रहने में हमें कोई फायदा नहीं था, और नुकसान यह था कि हम सबसे बुरी जगह में टिकान पाते। उस भले मानुष को इतना भी खयाल न था, कि उसके भगवानों के परिचित हमारे जैसे आदमी के साथ कुछ समानता का बर्ताव तो दिखलाता। हम अब फोङ्-छु के दाहिने किनारे से चल रहे थे। यही हमारी कोसी की ऊपरी शाखा है। कोसी जैसे हिमालय से परे तिब्बत से भारत आनेवाली नदियां, सिन्धु सतलज ब्रह्मपुत्र जैसी थोड़ी ही हैं। यहां भी फोङ्-छु की धारा बहुत छोटी नहीं है, लेकिन पार करने के

लिए किसी पुल की आवश्यकता नहीं है। मैदान सी जमीन पर बहने के कारण पानी को फैलने का काफी मौका था, इसलिए वह घुटनों के आसपास तक ही था। डेढ़ बजे हम डुब्-सी गांव में पहुंचे। जोङ्पोन् को यहीं ठहरना था। यद्यपि यह इलाका ञेनम जोङ् में नहीं पड़ता था, लेकिन सभी जोङ् पोनों को एक दूसरे से काम पड़ता था, इसलिए बेगार लेने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं होती थी, और बेचारे सीधे-सादे किसान पराये इलाके के जोङ् पोन् को भी अपने भगवान जैसा ही समझ कर उन्हें सिर आँखों पर रखने के लिए तैयार रहते थे। मालूम हुआ, जोङ् पोन् यहीं ठहरेंगे और उनका खच्चरवाला हमारे साथ आगे चलने के लिए तैयार था। २५-३० मिनट ठहरकर हम वहां से बहुत प्रसन्न होकर चल पड़े और ६ बजे फ-का (के-गं) गाँव में पहुंचे। जोङ् पोन् के न रहने के कारण पहला लाभ तो यह हुआ, कि हमें स्थान अच्छा मिला, किन्तु पशुओं को नुकसान में रहना पड़ा। गाँव में भुस नहीं थी। यह गाँव भी पहिले और ज्यादा आबाद रहा होगा, लेकिन अब वह पहिले का चौथाई रह गया था। उसका कारण नेपाल-तिब्बत वणिक-पथ का परिवर्तन, सत्रहवीं शताब्दी की लड़ाइयां, अथवा जनसंख्या का ह्रास—संभवतः तीनों ही मिलकर-इसके कारण हुए हों। ञेनम के तीन-चार मील पीछे हम वनस्पति क्षेत्र छोड़ आये थे: तिब्बत में बहुत जगहों पर आदमियों के हाथों द्वारा लगाये बीरी (बेद) और सफेदा के वृक्षों के झुरमुट भी इधर कहीं नहीं दिखाई पड़े थे, आज उनके कुछ वृक्ष देखने में आये। हमारे सामने लाल मंदिर वाला गाँव था, जहाँ पिछली लौटती यात्रा में हमने चाय पी थी। आज शाम को सभी सहयात्रियों का सम्मिलित थुक्-पा बना। थुक्-पा एक तरह की पतली खिचड़ी है, जिसमें चावल-दाल जैसे दुर्लभ और महँगे अन्न को डालना यहाँ आवश्यक नहीं समझा जाता। उसकी जगह सत्तू, मूली, आलू, मांस और हड्डी, चरबी, नमक, प्याज जैसी चीजें अधिक पानी डालकर घंटों पकाई जाती और फिर कटोरों में लेकर गरमागरम पिया जाता है। चरबी, मांस, और प्याज डालकर दो-तीन घंटे पकाया गया हो, तो थुक्-पा बहुत स्वादिष्ट होता है, इसमें संदेह नहीं। बड़े घरों में तो इसे पाँच-पाँच छ-छ घंटे चूल्हे पर रख छोड़ा जाता है। चूल्हे पर भी एक एक साथ पाँच-छ बर्तन रखे जा सकते हैं, इसलिए ज्यादा ईंधन खर्च करने का सवाल नहीं है। फिर यह गरमागरम थुक्-पा अब गृह के मालिक-मालकिन, बच्चे तथा मेहमान नंगे होकर कम्बल के भीतर चले जाते हैं, तब चीनी मिट्टी के कटोरों में भर-भरकर उनको दिया जाता है।

४ मई को अब जोङ्पोन् से पीछा छूट गया था, इसलिए हम सबेरे बिना चाय पिये चल पड़े और सामने नदी पार हो लाल मंदिरवाले गाँव से होकर आगे बढ़े। पिछली यात्रा में गेशे धर्म-बर्द्धन के साथ हम साक्या (स-स्क्या) की ओर से आते वक्त एक डांडा पार करके आये थे, लेकिन अब हम परिक्रमा करके चल रहे थे, जिसके कारण डांडे की चढ़ाई से बच गये। आगे एक बहुत छोटा सा डांग पा गाँव मिला। डांग पा तिब्बत में ऐसे पशुपालों को कहा जाता है, जिनकी जीविका केवल पशुपालन है। अब कितनी ही जगहों में वह थोड़ी सी खेती भी कर लेते हैं, लेकिन उनकी अधिकांश जीविका के साधन भेड़ें, और याक होते हैं। उनके घरों में भी अधिक बेसरो सामानी देखी जाती है।

हमारे देश के किसी गाँव में आप चले जाइये, आपका यदि वहाँ कोई परिचय न हो, या सौभाग्य से कोई सज्जन पुरुष न मिल जाये, तो पैसा और रसोई का कच्चा सामान पास रखते हुए भी आपको भूखों मरना पड़ेगा। तिब्बत का यात्री इस विषय में ज्यादा सौभाग्यवान् है, क्योंकि हर घर में उसे टिकान मिल सकती है, और घर में चीज होने पर वह पैसे से मिल भी सकती है। हम दोपहर को उस डाँगपा गाँव में एक काली कराली के घर में चाय पीने के लिए ठहर गये। तिब्बत के लोग काले नहीं होते, लेकिन वर्षों से जब किसी ने शरीर को पानी से न छुआने की कसम कर रखी है, और जो भी मैल या कालिख शरीर पर लगे उसके ऊपर घी या चरबी की चिकनाई मलना शोभा-वृद्धि के लिए आवश्यक समझे, तो कलकत्ते की कालिका का वहाँ कैसे अभाव हो सकता है! यदि आप मैल की शिकायत करें, तो महाकाली उसी समय उस जगह थूक मलकर उसे स्वच्छ बना देगी! हमारे देशके जूठ-मीठ में मरे आदमी को ऐसे हाथो से खाने पीने की चीज लेने में भी पहिले पहल घृणा होती है, लेकिन ऐसे आदमियों को तिब्बत जाने की जरूरत नहीं है।

चाय और सत्तू खा पीकर हम चल पड़े। रास्ते में कई जगह धरती में से सोडा उछला हुआ था। धोने का इतना बढ़िया और सस्ता सामान मौजूद था, मनों हाथ से बटोर लेने का सवाल था, लेकिन तब भी कपड़ा धोने की किसी को फुर्सत नहीं थी। हमारे घोड़े इस भूमि से चलते वक्त अधिक साँस रहे थे। शायद सोडे के तीक्ष्ण कण उनके नथुनों में घुस रहे थे। फिर मैदान में बालू के बहुत से टीले मिले। वहाँ के लोगों का विश्वास ही नहीं है, बल्कि हमारे नेपाली सहयात्री भी उसे सत्य मानते थे, कि इन टीलों के बनानेवाले आता-बू नामक पिशाच हैं। वस्तुतः यह आता-बू पिशाच यहाँ की हवा है, जो तेज चलने पर लाखों मन बालू एक जगह से दूसरी जगह लाकर रख देती है, कभी कभी तो यह काम घंटे भर के भीतर ही हो जाता है। ऐसे बवण्डर में यात्री के लिए खतरा भी हो सकता है। लेकिन आज हवा नहीं चल रही थी। आताबू के बनाये टीले विचित्र आकार के होते हैं। इनके एक ओर कुछ जगह खाली होती है, बाकी तीन ओर ढलानवाली टेकरी। आताबुओं का काम था टीलों को एक जगह से दूसरी जगह रखते रहना। मैंने अपने साथियों से कहा—शायद पिछले दिनों के काम से थके बेचारे कहीं लंबे पड़े होंगे। रास्ते में दो नदियां हमें और पार करनी पड़ी, फिर हम मबजा (मोर) नदी की कछार में पहुँचे। यह सभी नदियां अपने पानी को कोसी के नाम से भारत में भेजती हैं। छोन्-दू गांव में सूर्यास्त से पहिले ही हम पहुँच गये। छोन्-दू में भी चारों ओर श्रीहीनता छाई हुई थी। किसी समय यह एक समृद्ध बड़ा ग्राम या बाजार रहा होगा। उस समय यहाँ नेपाली व्यापारी भी रहते रहे होंगे। व्यापार के अभाव के कारण अब ञेनम के बाद नेपाली व्यापारी और उनकी दुकानें शिगर्चे में ही मिलनेवाली थीं, जिनके बीच में १२ दिन का रास्ता था। जब खरीदारोंका पता नहीं, तो कोई नेपाली क्यों दुकान खोलकर यहाँ बैठा रहेगा? छोन्-दू में कभी एक बड़ा बौद्ध विहार था, उसके नाम (धर्म-समाज) से भी इसका पता लगता है। पुराना विहार अब भी यहाँ मौजूद है, स्तूप भग्नावस्था में है। गाँव में मकान भी कम ही थे। बड़ी मुश्किल से हमें आते जाते सिपाहियों के ठहरने के मकान में जगह मिली। खाने

पीने की चीजें हमारे साथ थीं, इंधन मिल गया और जानवरों के लिए चारा भी। रात हमने किसी तरह काट ली।

५ मई को बिना चाय पिये ही सबेरे चल पड़े। मञ्जा-उपत्यका बहुत चौड़ी है, और उत्तर-दक्षिण को है। तिब्बत की सभी उपत्यकाओं की तरह यहाँ भी पहाड़ छोटे छोटे और बहुत दूर हैं, जिसके कारण धूप के आने में कोई रुकावट नहीं। किसी समय सारी मञ्जा-उपत्यका धन-धान्य से समृद्ध दर्जनों गाँवो से भरी थी, लेकिन अब कितने ही गाँव उजड़ गये हैं। कुछ घरों की दीवारों की पत्थर की चुनाई इतनी मजबूत है, कि दो-तीन शताब्दियों से परित्यक्त होने पर भी वे जैसी की तैसी खड़ी हैं। साल में जहाँ तीन-चार इंच वर्षा होती हो, वहाँ मिट्टी की दीवारें भी काफी वर्षों तक खड़ी रह सकती है। इन पत्थर की दीवारों पर तो छत डाल, किवाड़ और खिड़की लगाकर अच्छे मकान बनाये जा सकते है। किसी किसी शाखा उपत्यकाओं में यहाँ पद्म (धूप) जैसे देवदार जातीय वृक्ष भी मिलते है, जिससे पता लगता है कि शायद पुराने जमाने मे इन पहाड़ों में कही कही देवदार बन रहे होंगे। आजकल रक्षा और वृद्धि का कोई ख्याल न करके लोग अन्धाधुन्ध इन वृक्षों को काटते रहते हैं। मञ्जा-उपत्यका की श्रीहीनता को देखकर मुझे खयाल आता था कि क्या फिर कभी इसके दिन नही लौटेंगे। उस समय तो यह बहुत दूर की बात मालूम होती थी, लेकिन इन पंक्तियों के लिखते समय (दिसम्बर १९५१) अब वह समय बिलकुल सामने आ गया है। ल्हासा से मानसरोवर तक की जो मोटर सड़क बनाई जा रही है, वह शिगर्चे, साक्या, मञ्जा, तिङ्-रि होकर आगे ब्रह्मपुत्र का किनारा पकड़ेगी। क्योंकि इस रास्ते ब्रह्मपुत्र से कटे भीषण पहाड़ों से मुकाबिला नही करना पड़ेगा, दूसरे यदि ब्रह्मपुत्र के किनारे किनारे का रास्ता लिया गया तो, इधर के इलाकों के और भी श्रीहीन होने का डर हैं।

मञ्जा में हमारे मित्र डोनीला (डोन-यिग-ला) का मकान और खेती है, वह एक छोटे मोटे जमीन्दार (जागीरदार) है, मकान भी उनका अच्छा है। पिछली यात्रा में हम उनके बहनोई डोनी छेन्यो के यहाँ कई दिनों तक मेहमान रह चुके थे, और उनके सौजन्य के कारण उनका घर अपना घर सा मालूम पड़ता था। अब भी हम उन्ही के मेहमान होने जा रहे थे, इसलिए घोड़ा बढ़ाकर डोनीला से मिल लेना जरूरी समझा। डोनीला इस वक्त साक्या गये हुए थे। उनकी माता ने चाय के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु हमारे साथी अपने घोड़ों को आगे बढ़ाये लिये जा रहे थे, हम नहीं चाहते थे कि आगे का विशाल डंडा—डोङ्-ला, अकेला पार करना पड़े। तिब्बत में सबसे खतरे के स्थान यही ला (डांडे) थे, जो तेरह-चौदह से सत्रह-अठारह फुट तक ऊंचे हैं और उँचाई के कारण उनके दोनों तरफ पाँच-पाँच सात-सात मील तक गांव या आबादी नहीं होती। डांडो के दोनों तरफ की यही आठ दस मील की भूमि डाकुओं की सिकारगाह होती है, जहाँ यात्री को बहुत सावधानी से जाना पड़ता है। स्वयं तिब्बती भी वहाँ इक्के-दुक्के चलना नहीं पसन्द करते।

अगले गांव ला-तुङ् में हम चाय पीने के लिए ठहरे। मञ्जा-उपत्यका में यही नहीं कि

बहुत से गाँव उजड़ गये हैं और उनकी पत्थर की दीवारें खड़ी हैं, बल्कि जिन गाँवों में लोग रहते हैं, उनमें भी उजड़ी हुई बस्तियां ज्यादा मिलती हैं। चाय-सत्तू खाकर एक बजे फिर हम रवाना हुए और दो घंटे बाद डोङ्-ला जा पहुंचे। चढ़ाई दूर तक होने से आसान थी, लेकिन यदि हमें पैदल चलना पड़ता तो हवा के क्षीण होने का प्रभाव हमारे फेफड़ों पर जरूर मालूम होता। आज तेजरत्न से फोटो के बारे में बात की, क्योंकि अगले ही दिन साक्या में उनका साथ छूटनेवाला था। वह इस बात पर राजी हो गये कि प्लेट और कागज हम दें, और वह १२ आना में एक प्लेट की तीन कापी कर दिया करेंगे, अर्थात् मसाला और मेहनत के लिए उनको प्रति प्लेट १२ आना मिलेगा। दिन में पचास साठ प्लेट वह आसानी से खींच सकते थे, इसलिए कोई घाटे का सौदा नहीं था। हमें भी सैकड़ों तालपत्र की पोथियां मिलनेवाली थीं, जिनको फोटो द्वारा हम आसानी से उतार सकते थे। अब की यात्रा में हजार रुपये के आस-पास पैसे मिले थे, जिसमें ही यात्रा का दो आदमियों का खर्च भी निकालना था, इसलिए ज्यादा शाखर्ची नहीं दिखला सकते थे।

शाम होने से पहिले ही हमारे खच्चर-घोड़ेवाले लुगरा (भेड़ टिकान) गाँव में गये। गाँव में जाने तो शायद रहने को ठीक स्थान मिलता, लेकिन शायद उनके मालिक जोङ्पोन् का परिचय था, जो कि वह एक महल के पास गये। महलवाले आमतौर से बड़े जमींदार होते हैं, और बड़े बड़े सामन्त भी व्यापार को अपना आवश्यक पेशा मानते हैं, इसलिए शायद उस महल के मालिक के खच्चर व्यापार के संबंध में ञेनम के इलाके में होकर जाते होंगे, इसलिए दोनों का स्वार्थ-संबंध हो जाना स्वाभाविक था। अभी दिन इतना था कि हम आसानी से डेढ़ घंटे में साक्या पहुंच सकते थे, जहाँ घर की तरह सारा इन्तजाम था और जहाँ पर हमें अपने काम में लग जाना था, लेकिन खच्चरवालों को मनावे कौन? उनको यहाँ छंग (कच्ची शराब) मुफ्त मिलनेवाली थी, जानवरों के लिए घासचारा भी मुफ्त नहीं तो कम ही दाम में मिलता, फिर वह क्यों आगे जाते? लेकिन हम लोग बहुत घाटे में रहे, आज तो तकलीफ की पराकाष्ठा हो गई। एक अत्यंत छोटी सी कोठरी में हम ६ आदमियों को रात बितानी पड़ी। महल से बाहर न जाने किसलिए यह दरबा बनाया गया था। कुत्ते का दरबा तो नहीं हो सकता था क्योंकि यह उससे काफी बड़ा था। हमें पैर फैलाकर सोने के लिए भी जगह नहीं थी। मुझे उस समय पिछले साल (१९३५) के ईरान में मशहद और ज़ाहिदान के बीच की लारी-यात्रा याद आ रही थी, जब कि हम बोरों की तरह उसमें भर दिये गये थे। लेकिन वहाँ चार दिन रात उस लारी में गुजारा करना पड़ा था, और यहाँ केवल एक रात।

अभयसिंह जी को तिब्बत लाने का उद्देश्य यही था, कि वह यहां दो-तीन साल रहकर तिब्बती साहित्य का अच्छा अध्ययन कर लें, जिसमें आगे वह हमारे खोये हुये रत्नों को फिर से संस्कृत में लाने का काम करें। इतने दिनों के तिब्बत में साथ यात्रा करने से मालूम हुआ, कि उनको हम यहाँ के बारे में कोई बात सिखा नहीं सकते और सिखलाने का हमारा प्रयत्न उनके लिए रुचिकर नहीं होता था। यह जरूर था कि साक्या और दूसरे विहारों में जो संस्कृत के तालपत्र ग्रन्थ मौजूद थे, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों को उतारने में वह मदद कर सकते थे। मैं इस बात का मानने

वाला हूँ कि आदमी का बच्चा ठोंक-पीटकर बनाया नही जाता, फिर सयाने की तो बात ही क्या ? वह अपने तजुर्बे से सब कुछ सीख लेंगे। उनके पढने के लिए अच्छा स्थान टशीलुहुन्-पा का महाविहार ही हो सकता था, जहां पर कि हिन्दी जाननेवाले मेरे परिचित रघुवीर रहते थे। मैंने उनसे कहा कि यह सारे घोड़े शिगर्चे जा रहे हैं, साथी मिल रहे है, मै चिट्ठी और पैसा देता हूँ, आप इनके साथ चले जायें और रघुवीर के साथ रहकर तिब्बती भाषा पढ़ें। शिगर्चे और टशी-ल्हुन्पो दोनों ही आस-पास हैं, मठ का नाम टशील्हुन्पो है, और कस्बे का नाम शिगर्चे। अभयसिंह जी को विशेषकर ञेनम से इधर की यात्रा में कुछ मेरी बाते अरुचिकर जरूर मालूम हुई थीं, लेकिन मुझे इस तजुर्बे से इतना ही मालूम हुआ कि उनको अपने ऊपर छोड़ देने से सब ठीक हो जायेगा। जब मैं पैसा देने लगा, तो वह रो पड़े। मैने फिर उन्हें आगे जाने के लिए नही कहा, यद्यपि मुझे यह विश्वास नही था कि मे थरेमा रहने से उन्हे अधिक लाभ हो सकेगा।

६ मई को ६ बजे सबेरे ही अभयसिंह के साथ मे आगे बढ चला। अभी भी यहाँ सबेरे के के वक्त नालियों मे पानी बरफ बना हुआ था। मई का प्रथम सप्ताह खतम हो रहा था, लेकिन वृक्षों में अभी पत्तियां छोटी छोटी कलियो की तरह ही दिखाई पड़ रही थी, हरियाली का कही भी पता नहीं था। किसान अपने खेतों को अभी थोड़ा ही थोड़ा जोतने लगे थे। डोङ्ला ब्रह्मपुत्र और गंगा के पनढर की सीमा है। डोङ्ला से मब्जा की ओर जाने वाला पानी कोसी होकर गगा मे जाता है, और डोङ्ला से इधर का पानी साक्या नदी से होकर ब्रह्मपुत्र में गिरता है। साक्या नदी के पुल को पार कर हम साढ़े सात बजे कुशो डोन्-यिक्-छिन्-पो के घर में पहुच गये। वृद्ध कुशो ने दिल खोलकर स्वागत किया।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

आधुनिक लेखकों का उत्तरदायित्व

आधुनिक लेखक

आधुनिक लेखक से तात्पर्य उन सभी व्यक्तियों का है जो ज्ञान विज्ञान की विविध शाखाओं पर लिखा करते हैं और जिनके लिखित विचारों को छापे की मशीन के भीतर से गुजर कर जन साधारण तक पहुँचने का अवसर मिलता है। लेखक वे भी कहला सकते हैं जिनका लिखना उनके घर तक या मित्रों तक रह जाता है पर आधुनिक लेखक से मतलब केवल उन्हीं लेखकों से है जिनका लिखा सर्वसाधारण तक पहुंच जाता है। इनमें भी कई श्रेणियां हैं। सबके अलग अलग ढंग के कार्य हैं, अलग अलग ढंग के प्रभाव हैं। प्रेस आज का सबसे अधिक शक्तिशाली यन्त्र है। तुलसीदास जी ने तीर्थ वारि का माहात्म्य वर्णन करते समय लिखा था कि इसमें स्नान करके काक पिक हो जाया करते हैं और बक मयूर हो जाते हैं। प्रेस वह गंगा है जिसमें स्नान करने के बाद व्यक्तिगत विचार सामाजिक हो जाया करते हैं। एक बार जो बात प्रेस रूपी गंगा में स्नान करके निकली वह 'पब्लिक' बन गई। प्रेस की इस महिमामयी शक्ति को आजकल सर्वत्र बहुत महत्व दिया जाने लगा है। शक्तिशाली सरकारें प्रेस से त्रस्त रहा करती हैं और सब समय सतर्कता के साथ नियन्त्रण करती रहती है।

स्पष्ट है कि लेखन का कार्य सामाजिक उत्तरदायित्व का कर्तव्य है। लेखक के विचारों की अच्छाई या बुराई समाज की अच्छाई या बुराई को प्रभावित करती है। जनचित्त को प्रभावित, आन्दोलित और चालित करनेवाली जितनी भी संस्थाएं आधुनिक समाज को ज्ञात हैं—समाचारपत्र, सिनेमा, विश्वविद्यालय, अदालतें, व्यवस्थापिका सभाएं—सबको लेखक के क्रियात्मक सहयोग की जरूरत पड़ती है। सबको लेखन-कार्य से पोषण मिलता है। वस्तुतः संसार जितना भी आगे बढ़ता है या पीछे हटता है, उलझता है या ठिठकता है, सबका प्रधान उत्तरदायित्व लेखकों पर है। स्पष्ट है कि यह उत्तरदायित्व बहुत व्यापक और महान् है।

लेखकों की भी दो श्रेणियां है। एक वे हैं जो ज्ञान की शास्त्रीय व्याख्या करते हैं। अधिकतर उनकी कृति विशेषज्ञों के हाथ में जाती है जो धीरभाव से, ठंडे दिमाग से इन कृतियों की परीक्षा कर सकते हैं परन्तु कुछ दूसरे श्रेणी के लेखक हैं जो साधारण पाठक के भावावेग को और उनके उपरले स्तर की और गहराई की चित्तवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं और अपने विचार इसी माध्यम से जनचित्त में संचारित करते है। पहली श्रेणी के लेखक समाज के लिए उतने खतरनाक नहीं

होते जितने दूसरी श्रेणी वाले, क्योंकि विशेषज्ञ को सहज ही धोखा नहीं दिया जा सकता और धीर भाव के विवेचक को उत्तेजित नहीं किया जा सकता। दूसरी श्रेणी के लेखक संसार को अधिक प्रभावित करते हैं। और इसीलिए वे बहकने पर अधिक भयंकर और ढंग पर चलने पर अधिक उपकारक हो सकते हैं। साधारण भाषा में इस श्रेणी के लेखक को 'साहित्यिक' कहा जाता है। समाज के संबंध में सबसे बड़ा उत्तरदायित्व इन्ही लेखकों का है क्योंकि इनका प्रभाव साक्षात् प्रवर्तित होता है।

जिस युग में हम वास कर रहे हैं वह इतिहास के अन्यान्य युगों से बहुत भिन्न है। वैज्ञानिक साधनों ने इसे ऐसी अनेक विशेषताओ से संचालित किया है जो पुराने युगो में अपरिचित थीं। आज के युग में किसी बात के प्रचारित होने में देर नही लगती। आज न्यूयार्क में सभा बैठती है कल मास्को की आँखें चौकन्ना हो उठती हैं। नाना स्वार्थों का ऐसा अनवरत संघर्ष चल रहा है कि सब कामों में फुर्ती और क्षिप्रकारिता का जोर बढ़ गया है। दुर्भाग्यवश गलत बातें ज्यादा फैल जाती हैं। चारों ओर संदेह का वातावरण है। सन्देह मनुष्य-चित्त का सबसे निकृष्ट भेदक धातु है। एक बार जब यह मन मे घर बना लेता है तो मनुष्य हर बात में षड्यन्त्र का आभास पाने लगता है। इस समय राष्ट्रों के चित्त में वही संदेह घर बना बैठा है। प्रत्येक बात में कोई न कोई उद्देश्य खोजा जाता है। एक राष्ट्र यदि दूसरे के साथ हाथ मिलाता है तो तीसरे का हाथ अचानक तलवार की मूठ पर जा बैठता है। ऐसे शंका और संदेह के वातावरण में कोई बड़ी साधना हो ही नहीं सकती। यह कुछ ऐसा 'दिनन का फेर' है कि 'चुप ह्वै बैठना' ही उचित सलाह जान पड़ती है। चारों ओर सशंक दृष्टि, चारों ओर भयत्रस्त चेहरे, सर्वत्र षड्यन्त्र की गन्ध, ये बातें मनुष्य के सभी व्यवहारों को अन्त तक संदिग्ध और भयंकर बना देती है। यह ऐसा दही है जिसमें जितना भी दूध डालो दही होता जायगा।

इसमें ऐसे लेखक हैं जो दूसरों का दोष रस लेके लिखते हैं। दोष को रस लेके लिखने का सबसे बड़ा खतरा यह नही है कि लेखक दोष को दोष के रूप में चित्रित कर रहा है। वह तो कोई हानि की बात नही है। हानि है लेखक की आसक्त दृष्टि। कोई जब दोष में रस लेने लगता है तो असल में उसकी दृष्टि आसक्त अतएव मोहाविष्ट हो जाती है और वह अनासक्त भाव से सचाई को नहीं देखता। प्रत्येक जाति के संस्कारों में दूसरी जाति वाले को कुछ ऐसी बातें दीख जाती हैं जो उसे अच्छी नहीं लगतीं। उस पर ठंडे दिमाग से विचार किये बिना अनर्गल लेखनी चलाना अनुचित है। ऐसे विदेशी लेखक जो इस देश को क्षुब्ध करनेवाली पुस्तकें लिखते हैं, आदर्श नहीं हैं क्योंकि उन्होंने सचाई को ठीक-ठीक नही देखा। उनकी दृष्टि गंदगी तक जाकर रुक गई है। विशाल प्रासाद में केवल मोरियों की ही ओर देखना सही देखना नहीं है। ऐसा देखनेवाला अच्छे उद्देश्यों से चालित नही होता। वह दोषी को बदनाम करके कुछ अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। जब बात-बात में गलतफहमी फैलने का अन्देशा हो तब लिखने वालों को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए।

साहित्य का प्रयोजन

प्रत्येक लेखक से संसार की नीति के प्रभावित होने की संभावना बराबर नहीं है। कोई कम प्रभावित करता है कोई अधिक। किन्तु प्रभावित सभी करते हैं। यह समझना भूल है कि जिसकी रचना कम लोग पढ़ते हैं उससे उत्तरदायित्व का पालन ठीक ठीक नहीं भी हो तो कोई हर्ज नहीं है। इस क्रम सकोचनशील जगत् में एक आदमी को गुमराह करने से भी कभी कभी भयंकर हानि की सभावना होती है। एक आदमी को भी अगर ठीक से सही रास्ते पर लगा दिया जाय तो संसार का असीम उपकार होगा। यह समझना कि हमारा प्रभाव-क्षेत्र कम है या छोटा है अतएव हमारा उत्तरदायित्व भी कम है या छोटा है, गलत समझना है। छोटा लेखक हो या बड़ा, समाज के प्रति उसका उत्तरदायित्व वही है। उसे संसार की वर्तमान समस्याओं को ठीक ठीक समझना चाहिए और शान्त चित्त से सोचना चाहिए कि मनुष्य को मनुष्यत्व के लक्ष्य तक ले जाने में कौन कौन सी शक्तियां सहायक हैं और कौन कौन सी बाधक। फिर उसे सहायक शक्तियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करनी चाहिए और बाधक तत्वों के प्रति विरक्ति।

इधर यह कहा जाने लगा है कि लेखक को ज्ञान की साधना ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से ही करनी चाहिए। कला कला के लिए है, साहित्य साहित्य के लिए है—इनका और कोई प्रयोजन नहीं है। इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि जब साहित्यलेखक साहित्य लिखने लगे तो उसे केवल साहित्य के नियमों और रूढ़ियों का ध्यान रखना चाहिए, दुनिया के और झमेलों में नहीं पड़ना चाहिए और दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि लेखक मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाने का प्रयत्न करे यह तो वांछनीय ही है। पर वह कल्याण वाद लेखक के लेख के ऊपर ऊपर उतराता न रहे बल्कि सरस भंगिमा के नीचे दबा रहे, प्रवाह में घुला रहे। जिस प्रकार माता का दूध बच्चे के लिए हितकारक तो है पर वह हितकारिता ऊपर ऊपर उसमें उतराती नहीं रहती, दूध के माधुर्य में, तारल्य में, सहजपाच्यता में घुली मिली रहती है। बच्चे को यह पता भी नहीं चलता कि वह पुष्टिकारक रस पी रहा है। उसे तो केवल माधुर्य ही उसकी ओर आकृष्ट करता है। साहित्य में भी हितकारिता इसी प्रकार घुली मिली हो तो, उत्तम हो।

दूसरी व्याख्या अच्छी है परन्तु पहली व्याख्या गलत है। क्योंकि उसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेखक को इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिए कि समाज बनता है या बिगड़ता है—या कम से कम समाज जैसा है वैसा ही इसे स्वीकार कर कुछ रस-सर्जना करते रहना चाहिए। यह गलत बात है। समाज में गतिशीलता का बना रहना अच्छा है। प्रवाह सर्वत्र शोधक-शक्ति का काम करता है—नदी में भी, जीवन में भी, समाज में भी और साहित्य में भी। प्रवाह के रुद्ध होने से नदी का पानी सड़ने लगता है और भयंकर जहरीले कीटाणुओं से भर जाता है। समाज में भी प्रवाह बन्द हो जाय, गति रुक जाय तो सड़ान पैदा हो जाती है। इसलिए समाज के प्रवाह को बनाए रखना आवश्यक है। यदि नित्य विचारों द्वारा समाज में गतिशीलता नहीं लाई जाएगी तो उसका भी रुद्धगति होकर विकृत हो जाना जरूरी है। इसलिए यह तर्क बिलकुल निस्सार है कि

समाज से हमें कोई मतलब नहीं। हमने शुरू में ही देखा है कि लिखना इन दिनों एक सामाजिक कर्तव्य हो गया है। सामाजिक कर्तव्यों से विच्युत लिखाई अपना प्रतिवाद आप ही है।

समाज में बहुत सी विषमताएं हैं। बहुत सी विषमताएं मनुष्य में प्रकृतिदत्त हैं। वे तो रहेंगी ही परन्तु हर व्यक्ति को विकसित होने का समान अवसर मिलना चाहिए जो इन दिनों नहीं मिल रहा है। इस विषमता के कारण अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गई है। जो दबाए गये हैं, दलित हैं, वंचित हैं वे तो इस व्यवस्था से कष्ट पाते ही हैं, जो दबानवाले हैं वे भी कष्ट पाते हैं। शान्ति और व्यवस्था के नाम पर संसार भर में लाखों करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं, प्रत्येक देश की सरकार सुरक्षा के लिए कोटि कोटि रुपये खर्च कर रही है—ये व्यवस्थाएं अपने पेट में भयंकर विस्फोट और महा अनर्थकारी युद्ध लेकर अवतीर्ण हुई है। यदि तह मे जाकर देखा जाय तो सब द्वन्द्वों की जड़ में अनर्थकारी विषमताएँ हैं।

और देशो में तो राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ ही है परन्तु हमारे देश में सामाजिक विषमता भी बड़े ही भयंकर रूप में विद्यमान है। कभी कभी तो उपरले स्तर के लोगों में भी यह विषमता भयंकर रूप से उपस्थित रहती है। इसने हमारे देश की सामाजिक शक्ति को खंडित विच्छिन्न और असहत बना दिया है। यह अत्यन्त संतोष की बात है कि पिछले खेवे के हमारे साहित्यकारों ने इस विषमता पर कम के आघात किया है और उसकी रीढ़ तोड़ दी है। पर टूटी रीढ़ लेकर भी यह कम्बख्त जी रही है। सीधी तो नही खडी हो सकती पर सरक कर अब भी वह अनर्थ कर रही है। नई पीढ़ी के लेखकों पर इसको कुचल कर समाप्त कर देने का उत्तरदायित्व है।

हमारे देश के लेखकों पर विशेष रूप से उत्तरदायित्व है। हमारे देश का इतिहास बहुत पुराना है, हमारी संस्कृति बहुत समृद्ध है। हमारा इतिहास विपुल है और हमारा अनुभव अपार है। हम अभी पराधीनता के पाश से मुक्त हुए हैं, हमें राजनीतिक परवशता का दुःख मालूम है, हमें आर्थिक शोषण का कष्ट भी मालूम है, हमे सामाजिक वैषम्य की कठोरता भी मालूम है। हम इनके विरुद्ध खडे होने के उत्तम अधिकारी हैं। सौभाग्यवश हम ऐसे पूर्वजों की संतान है जो धीरभाव से सोचने में, शान्तभाव से देखने में प्रसिद्ध है। इसीलिए हमारे ऊपर उत्तरदायित्व बहुत है। जब संसार संदेह और शंका के भीतर से गुजर रहा है, जब प्रबल का सदर्प संचार दुर्बल के चित्त में भीति और दुविधा का भाव भर रहा है, जब सारा संसार फिर से भयंकर युद्ध की ओर तीव्रगति से धावमान है, हमारे देश के लेखकों का दायित्व और भी बढ़ जाता है। हम सब प्रकार से मानवता, समता और स्वाधीनता के आधार पर संसार को नया प्रकाश देने के अधिकारी है और मनुष्य को नई संस्कृति देने के संकल्प के उचित पुरस्कर्ता हैं। संसार को इसी की आवश्यकता है।

(आकाशवाणी, इलाहाबाद के सौजन्य से)

आचार्य चतुरसेन

वैदिक साहित्य पर आसुरी प्रभाव

[गताङ्क से आगे]

इस गाथा में अंगिरा के लिए 'अग्रेग' शब्द आया है। अंगिरा अथर्व ही का वाचक है[1] इस प्रकार जरदस्तु ने अथर्व ही के द्वारा संदेश प्राप्त किया और उसका कर्म अथर्वानुमोदित है।

असुर आचार्यों की सम्पन्नता

यह भी प्रतीत होता है कि इस आसुरी विद्या के ज्ञाता आचार्य खूब संपन्न, धनी खुशहाल होते थे। उनके पास बड़े-बड़े महल, वस्त्रालंकार, रथ, सवारी, दास, दासी और सुन्दरी स्त्रियाँ होती थी। वे मद्य मास सेवन से भी परहेज न करते थे।[2] छान्दोग्य उपनिषद के एक असुर आचार्य की आमदनी और ठाठ का परिचय इस वर्णन से मिल जायगा—रैक्व नामक एक असुर ऋषि थे। उनके पास राजा ज्ञानश्रुति छः सौ गाय, स्वर्ण, मणि, रथ और बहुत साधन लेकर गया। इस पर ऋषि ने कहा—अरे शूद्र, यह हमको न चाहिए। तब वह राजा दुबारा एक हजार गाय, बहुत सा धन, अपनी कन्या, और उस गाँव का पट्टा जिसमें ऋषि रहते थे लेकर गया तो कन्या के सुन्दर मुँह को देखते ही ऋषि जी पिघल गये और उस कन्या के मुख को प्यार से देखते हुए बोले-हे शूद्र, यह भेंट ठीक लाये हो, अब इस कन्या के मुख कमल की बदौलत ही मेरा ज्ञान सुनना।[3]

यज्ञ की आसुरी व्याख्या

ये आसुरी ऋषिगण इस ऐश्वर्य के बीच जो वाममार्ग की स्थापना कर रहे थे उसका पता छान्दोग्य और बृहदारण्य उपनिषद के इस रूपक से लगता है जिसमें उन्होंने यज्ञ की व्याख्या की है—वहाँ लिखा है—हे गौतम, स्त्री ही अग्नि है, शिश्न समिधा है, योनि ज्वाला है, आकर्षण धूम

---

१ अथर्वाङ्गिरसोमुखम् (अथर्व)

२ प्राचीनशालः औपमन्यवः महाशालाः महाश्रोत्रियः (छान्दोग्य ५।११।१)
शौनको ह वै महाशालो (मुण्डक १।१३)

३ तस्याहमुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचआजहारेमाः।
शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति। (छान्दोग्य ४।२५)

है, प्रवेश अंगार है, आनन्द चिनगारी है, वीर्यपात ही आहुति है, इस आहुति से गर्भ होता है।[1] यह हुई यज्ञ की रूप व्याख्या। यज्ञ में वेद पाठ होता है, उस वेद पाठ का भी जो रूप इस उपनिषद मे लिखा है वह सुनिए। हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, आदि सामगान की विधियाँ है। यह वामदेव गान भी रूपक अलंकार से मैथुन मे ही समझाया गया है। "संदेशा भेजना हिंकार, इशारे करना प्रस्ताव, रति उद्गीथ और प्रत्येक स्त्री के साथ सोना प्रतिहार, वीर्य निरोध और वीर्यपात निधन है।"[2] इस का माहात्म्य इस प्रकार कहा गया है—"जो वामदेव्य गान को मैथुन में ओत प्रोत जानता है वह मियुनी (मैथुन मे प्रवीण) होता है। मैथुन से सन्तान होती है, आयु भर सुखी रहता है, दीर्घजीवी होता है, धनी, और कीर्तिवान होता है, इसलिये किसी स्त्री को न छोड़ना चाहिए, यही व्रत है।[3]

बृहदारण्यक उपनिषद (६।२।१३) मे उपर्युक्त वर्णन है, इसी उपनिषद मे जिस स्त्री का जार हो तो उसकी शुद्धि अमुक विधि से करे ऐसा लिखा है।[4] बृहदारण्यक उपनिषद में स्त्री सहवास सुख की उपमा ब्रह्मानन्द से दी है।[5] और यहाँ तक लिखा है कि बेहोशी की हालत मे रमण करे (**तस्मिनस्वप्ने रत्वा चरित्वा**)

स्त्री सहवास की भांति ही उपनिषदों में मांसाहार का विधान है —'यदि कोई यह चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, सभामे जाने योग्य, अच्छा भाषण करनेवाला, सब वेदों का ज्ञाता

---

१ योषा वा अग्निर्गौतमस्य उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चि यदन्तः करोति ते ऽङ्गारा अभिमन्दा विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्मावाहुत्यै पुरुषः सम्भवति। योषा वाव गौतमाग्निस्तस्याउपस्थ एव समिदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगा तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति। (बृहदारण्यक ६।२।१३ और छांदोग्य ५।८।१—२।)

२ उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति स निधनं पारेगच्छति। तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्। (छान्दोग्य० २।१३।१)

३ समएव मेतद्वाम देव्यं मियुन प्रोतंवेद मियुनाभवति
मियुनात्मियुनात्प्रजायते सर्वमायु रेति ज्योग जीवतिमहान्
प्रजयमिर्भवति महान्कीत्यत काचन परिहरेत् तत् व्रतम्

छान्दोग्य

(यहाँ जो 'कांचन' शब्द आया है इसका अर्थ शंकराचार्य ने अपने भाष्य में—न कांचन कांचिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्रा प्रां न परिहरेत्समागमार्थिनीम्—अर्थात् समागम की इच्छा से जो स्त्री अपनी शैया पर आवे उस स्त्री को कभी न छोड़े।)

४ अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तंचेद्द्विष्यादाम पात्रेऽग्निमुपसमाधाय० (बृहदारण्यक (६।४।१२)

५ बृहदारण्यक ४।३।२१। और ४।३।३४।

और जीवनपर्यन्त सुखी रहनेवाला हो तो उसे घोड़े या बैल का मांस घृत मिले हुए भात के साथ खाना चाहिए ।[1] मद्यपान के सम्बन्ध में लिखा है—जिसके पिता और पितामहादि मद्य न पीते हों वह नीच है (यस्य पिता पितामहादि सुरा न पिबेत्स ब्रात्यः) इन असुराचार्यों के ऐश्वर्य का पता कठोपनिषद् के इस वाक्य से लगता है कि—हे नाचिकेता तू मुझसे बड़े बड़े महल, जमीदारी, जेवर, हाथी, घोड़े, पुत्र पौत्र, और सुन्दर स्त्रियाँ मांग ले पर यह प्रश्न न कर ।[2]

गीता में आसुरी तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थान त्रयी की दूसरी पुस्तक है । आज कल गीता का माहात्म्य बहुत बढ़ गया है । तिलक और गाधी जी ने इस महत्व को बढ़ाने में भी बड़ा योग दिया है । इसी गीता में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन किया गया है ।—"लोक में दो भूत-सर्ग है-एक दैव दूसरा आसुर । दैव का वर्णन हो चुका, आसुर का कहते हैं । प्रवृत्ति और निवृत्ति में असुर भेद नहीं मानते । न शौच और आचार, न सत्य ही का विचार करते हैं । काममोहित हो वे दुष्कृत्य करते हैं, तथा दम्भी होते हैं । वे कामभोगरत होते हैं । —वे असत्यवादी-अप्रतिष्ठित हैं और जगत को अनीश्वर कहते हैं । मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, सुखी हूँ, बलवान हूं, सुखी हूँ, आढ्य हूँ, जनसम्पन्न हूं, मुझ सा कोई और नहीं है ऐसा मानते हैं । वे मोह-जाल में फसे हैं, और उनका चित्त भ्रमित है, वे काम भोगों मे फँसे हैं, अवश्य अपवित्र नरक में गिरेंगे, वे अपने ही प्रशंसक हैं और मदमस्त रहते हैं । वे दंभसे विधिरहित यज्ञ करते हैं, अहंकार दर्प, बल, काम, क्रोध में मग्न हैं, औरों पर ईर्षा करते हैं, अपने आप ही को सब कुछ समझते हैं ।[3]

आसुरी भावों का यह वर्णन गीता में कब मिश्रित हुआ है । इस पर विचार करने का यह अवसर नहीं । यहाँ तो यह देखना है कि गीता के मूल में जो अहं तत्व है वही असल आसुरी सिद्धान्त है । कृष्ण गीता में जो यह कहते हैं कि मैं ही सब कुछ हूँ, जगत में जो कुछ श्रेष्ठ है, वही मैं हूँ, तुम सब धर्मों को छोड कर मेरी शरण आओ—असल आसुरी सिद्धान्त तो यही है जो आर्य सिद्धान्त और वेद से विरोधी है । इसी से गीता वेद का विरोध करती है । "बहुत शाखा वाले अनन्त वेदों से बुद्धि चंचल हो जाती है, वेदवाद में रत, जो वेदों में सब कुछ है अन्यत्र कुछ नहीं, कहते हैं वे अज्ञानी हैं । वे कामभोग और स्वर्ग के मानने वाले और कर्म में अनेक प्रकार की विधि करनेवाले तथा भोग ऐश्वर्य में ही प्रीति रखते हैं । ऐसे लोग

---

१ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विजिगीषुः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत, सर्वान्वेदाननुब्रवीत् सर्वमायुरियादिति, मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा । (बृहदारण्यक ६।४।११)

२ कठोपनिषद् १।२५

३ गीता—

समाधि को नहीं प्राप्त हो सकते, हे अर्जुन वेद त्रिगुणात्मक हैं, इसलिए तू निर्द्वंद्व, शुद्ध चित्त, योगक्षेम का त्यागी, आत्मनिष्ठ हो जा। वेद उपयोगी नहीं हैं, वे तो बड़े तलाब की अपेक्षा छोटे कुएं के समान हैं। वेद से तेरी मतिमंद हो गई है, अतः जब निश्चल वृत्ति होगी तभी योग प्राप्त होगा।[1]

वेदान्त ब्रह्मसूत्र

वेदान्त दर्शन न्याय, वैशेषिक, योग, साख्य, मीमांसा सभी का विरोध करता है। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्रों ही से अन्य दर्शनों का खण्डन किया है। इसके अधिकाश सूत्र तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर बनाये गए हैं। और उसका मूल उद्देश्य वही अहं तत्त्व है अर्थात् आत्मनिष्ठा। अब उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रों के सगठन पर विचार करना चाहिए—यह संगठन एक दूसरे की सहायता से आसुरी तत्त्वों को पुष्ट करने के उद्देश्य से हुआ है। हम फिर से इन तीनों ग्रन्थों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं।

प्रस्थानत्रयी और शंकर का दुस्साहस

उपनिषद्, गीता और वेदान्त सूत्र इन तीनों के संगठन को 'प्रस्थानत्रयी' नाम दिया गया है। यह नाम श्रीशंकराचार्यने दिया है। और बौद्धों के 'त्रिपिटक' की प्रतिस्पर्द्धा मे यह नाम रखा गया है। तीनों ग्रन्थो मे प्रधान उपनिषद् हैं। गीता में स्वयं कहा कि उपनिषद् रूपी गायो को दुह कर गीता रूपी दुग्ध अर्जुन को पिलाया गया है। इस प्रकार गीता और वेदान्त-दर्शन दोनों ही उपनिषदों के ही आधार पर बनाये गए हैं। ये उपनिषद् ब्राह्मणों के भाग हैं। शंकराचार्य ने सब प्रमाण उपनिषदों ही से ले कर ब्रह्म सूत्रों के भाष्य की रचना की है। उन्होने जो नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण बनाया है उसमें उन्होंने उपनिषद् को श्रुति और गीता को स्मृति बना दिया है। प्राचीन श्रुति वेद थे और स्मृति याज्ञवल्क्य, मनुआदि स्मृतियाँ। अभी तक न किसी ने उपनिषद् को श्रुति ही बताया था न गीता को स्मृति। सब से प्रथम यह कार्य शंकराचार्य ने किया। इसका असल कारण यह था कि उन्हें जिन तत्त्वों की आवश्यकता थी वे न वेद में थे न

---

१ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन। बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः। वेदवादरता पार्थनान्यदस्तीतिवादिनः।
कामात्मानःस्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽप हृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेमआत्मवान्।
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।
(गीता, अध्याय २ श्लोक ४१। ४२। ४३। ४४।४५।४६।४७)

स्मृतियों में। इसी से उन्हें यह दुस्साहस करना पड़ा। परन्तु इसका सांस्कृतिक प्रभाव आर्य संस्कृति पर यह पड़ा कि वह वेद और स्मृति से विमुख हो कर सम्प्रदाय की ओर अभिमुख हो गई। जिस प्रकार वेद संहिता में आवश्यक बातों के न मिलने से उपनिषदों को नवीन श्रुति बना लिया गया उसी प्रकार जहाँ जहाँ व्यास सूत्रों के भाष्य में स्मृति के प्रमाणों की आवश्यकता हुई है, शंकराचार्य ने गीता ही के श्लोक उद्धृत किए हैं।

प्रस्थानत्रयी की समीक्षा

गीता और ब्रह्म सूत्र दोनों ही व्यास रचित कहे जाते हैं—पर हमें इस बात में संदेह के बहुत से कारण मिलते हैं। वास्तव में उपनिषदों को नई श्रुति और गीता को स्मृति बना कर उनके सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप देने ही के लिए वेदान्त सूत्रों की सृष्टि हुई है। संभव है, व्यास का कोई ब्रह्म सूत्र हो पर वर्तमान ब्रह्म सूत्र तो सर्वथा आधुनिक है, उसके अनेक सूत्रों में तो केवल उपनिषद् और गीता में कथित भावों का खुलासा ही है। चिन्तामणि विनायक वैद्य भी इसी मत को स्वीकार करते हे।[1]

एक उदाहरण लीजिये। वेदान्त में ईश्वर के अस्तित्व पर केवल. दो सूत्र हैं। (**शास्त्र योनित्वात्**—ईश्वर न होता तो ज्ञान कहाँ से आता ?—**ज.माद्यस्ययतः**—संसार की स्थिति-प्रलय उत्पत्ति कैसे होती ?)तीसरे एक सूत्र में युक्ति की गई है—(**'तत्तु सम वयात्** वर्णन होने से-समन्वय होने से उसका अस्तित्व है)परन्तु समन्वय के जितने भी प्रमाण उद्धृत किए गए हैं सब उपनिषद् और गीता के ही हैं, और उन्हीं स्थलों के जो आसुर हैं। वेदों का तो कहीं उल्लेख ही नही है, यदि कदाकदा कहीं कुछ है भी तो वह भाष्यकारों ही का है। इस प्रकार वेदान्त यथार्थ में वेदान्त (वेदों का अन्त करने वाला) दर्शन है। सम्भवतः वैशेषिक आदि दर्शनों का विरोध इसीलिए किया गया है कि उनमें वेदोक्त भाव हैं।

अब आप एक बात पर ध्यान दीजिये—सब जानते हैं कि बौद्ध धर्म के चार भेद हैं, चारों में से दो पदार्थ को नाशवान् मानते हैं, इनके मत से संसार में दो समुदाय हैं—एक में भूमि, जल, तेज और वायु के परमाणु हैं, दूसरे में रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कंध सम्मिलत हैं। पहले को वाह्य समुदाय और दूसरे को अन्तः समुदाय मानते हैं। बौद्ध दृष्टि से यही दो समुदाय सृष्टि का कारण है। वेदान्त सूत्र—**समुदाय उभय हेतु केऽपि तव प्राप्तिः**—२।२।१ में इन्हीं दोनों समुदायों का संकेत है। सूत्र का अर्थ है कि दोनों समुदाय जड़ हैं अतः वे जगत् उत्पादक नहीं। इस सूत्र से यह तो स्पष्ट ही है कि वह बौद्धों के बाद की रचना है क्योंकि बौद्ध धर्म में चार सम्प्रदायों का विस्तार मसीह की पहिली शताब्दी के लगभग हुआ है। उसमें अनेक सूत्र तैत्तिरीय और वृहदारण्यक उपनिषद् ही से सम्बन्धित हैं[2] जो वैशम्पायन के शिय

---

१ देखिये महाभारत मीमांसा पृ० ५५।

२ वेदान्त का दूसरा सूत्र तैत्तिरीय उपनिषद् "यतोवाइमानि भूतानि० वाक्य से संबंधित है। तथा तीसरा—'वृहदारण्यक उपनिषद के—'एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेवैतत्' से।

याज्ञवल्क्य के काल में संपादित हुआ।[1] उसका ब्राह्मण तो और बाद में बना। तथा ब्राह्मण के बहुत दिन बाद उसका उपनिषद् बना।

वेदान्त सूत्रों में व्यास, व्यासपुत्र शुक तथा व्यासपिता पराशर का भी उद्धरण है।[2] यह बड़ी विचित्र बात है कि बादरायण ही अपनी रचना में अपना उल्लेख करें। पूर्वोक्त कारणों से यह ग्रन्थ उत्तरकालीन प्रतीत होता है, और इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि उस पर कोई प्राचीन भाष्य नही है।[3] एक बात और भी चमत्कारिक है—श्रीमद्भागवत और वेदान्त दर्शन दोनों ही का प्रारंभ एक ही वाक्य 'जन्माद्यस्य यतः' से होता है। श्रीमद्भागवत के कर्त्ता का तो आज तक पता ही नही लगा—हां गीता और वेदान्त व्यास कृत समझे जाते हैं परन्तु इसमे कितना सत्य है यह पाठक अब विचार ले। गीता में ब्रह्म सूत्रों का उल्लेख है[4] परन्तु वेदान्त के अनेक सूत्र केवल गीता के आधार पर है।[5] इन सूत्रों मे स्मृति की जिज्ञासा गीताही से पूरी की गई है। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्र के २।३।४५ और १।३।२४ वे सूत्र के भाष्य में साफ साफ यह बात कह भी दी है[6] कि यह बात गीता स्मृति मे है।

तिलक, जो गीता के संसार भर में सब से बड़े विद्यार्थी है, गीता की प्राचीनता पर संदेह करते है।[7] गीता पर शंकराचार्य से पूर्व किसी ने टीका ही नहीं की। न शंकर से पूर्व इसका पृथक् कोई अस्तित्व ही था। गीता के १८ वें अध्याय के अंत में संजय कहता है कि व्यास की कृपा से मैंने इस परम गुह्य को कृष्ण से सुना। संजय ने कृष्ण से सुना, पर व्यास की कृपा से क्यों? बात तो यह प्रतीत हो रही है कि संजय खुद दिव्य दृष्टि से देखा युद्ध का हाल धृतराष्ट्र को कह रहे है। इसका स्पष्ट यह अर्थ है कि व्यास से पहिले सजय को ही पूरा ज्ञान होना चाहिए।

अब उपनिषदो पर भी एक बार फिर विवेचक दृष्टि डालिये। शंकर ने १० उपनिषदों

---

१ आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।
(बृहदारण्यक उपनिषद्)

२ पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् २।२।४१
पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ३।४।१
अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ३।४।१९
द्वादशाह वदुभय विधं बादरायणोऽतः ४।४।१२

३ अब बौधायनी टीका सुनी अवश्य जाती है।

४ ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव....गीता १३।४

५ वेदान्त सूत्र 'स्मृतेश्च १।२।६ गीता के ईश्वरः सर्व भूतानां० का संकेत करता है।
'अपिच स्मर्यते २।३।४५—गीता के 'ममैवांशोजीवलोके० का संकेत करता है।
"अपिच स्मर्यते १।३।२४ गीता के—'न तद्भासयते सूर्यो० इसका संकेत करता है।

६ स्मर्यते भगवद्गीतासु गीतास्वपिच स्मर्यते।

७ देखिये गीता रहस्य भाग २ पृ० ५३६

को प्रधान मान कर उनका भाष्य किया है। उनमें भी ईशोपनिषद् प्रथम है। यह वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है और 'ईशावास्य' वाक्य से प्रारंभ होता है। इसी से इसका नाम ईशोपनिषद् है। परन्तु अब प्रारम्भ ही में इसकी मिलावट देखिए—

वेद में मन्त्र है—

हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् (यजुर्वेद)

परन्तु उपनिषद में इस मन्त्र में डेढ़ श्लोक मिलाया गया है, देखिये—

तत्त्वं पूषन्नपावृणुसत्य धर्माय दृष्टये।
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि (ईशोपनिषद्)

कुछ विद्वानों का कथन है कि यह डेढ़ श्लोक कण्व शाखा का है। कण्व शाखा में वह है अवश्य; वृहदरण्यक (५।१५।१) में भी है। परन्तु सर्वत्र यह बाहर से आया है। और इस बात के संदेह के बहुत कारण है कि आसुर उपनिषद् से ही आया है। इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् के तृतीय मुण्डक के नवम् खण्ड में एक श्लोक को ऋचा कह कर बताया गया है। पर चारों वेदो मे कहीं भी वह ऋचा नहीं है। इसी प्रकार से तैत्तिरीय उपनिषद् मे भी ऐसी बातें हैं जो वैदिक परंपरा की विरोधिनी है। वृहदारण्यक में लिखा है—'आरंभ में एक ही आत्मा था दूसरी कोई वस्तु न थी।'[1] परन्तु छांदोग्य कहता है—'आरंभ में केवल एक सत था और कुछ नहीं है।'[2] आगे छांदोग्य ही में उसके विपरीत कहा गया है कि एक कहता है कि आरंभ में एक असत् ही था। उसी से सत की उत्पत्ति हुई।'[3] इससे यह पता लगा कि उस काल में आत्मा-सत-और असत् पर विश्वास रखने वाले तीन सम्प्रदाय थे।[4] एक आत्मा से, दूसरा सत् से और तीसरा असत् से जगत् की उत्पत्ति मानते थे।

अब आप 'सत्' और 'असत्' इन दो शब्दों पर ध्यान दीजिए। सत् का अर्थ भाव या अस्तित्व है। इसका अर्थ है—सृष्टि ऐसी ही थी। असत् का अर्थ शून्य, अभाव है। इसका अभिप्राय

---

१ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् (बृह०। १।१)
२ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य ६।१।१)
३ तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सदजायत। छान्दोग्य ६।१।१
४ फाहियान कहता है कि मध्यभारत में ९६ मिथ्या दृष्टिसंप्रदाय हैं; वे आत्मा की नित्यता मानते हैं। प्रत्येक संप्रदाय की शिष्य परंपरा है। (Buddhist Records. P. xlviii)

यह कि प्रलय दशा थी। सत् और असत् से भाव और अभाव ही का अर्थ लिया गया है। क्योंकि वहाँ बहस भी है कि असत् से तेज और जल कैसे उत्पन्न हो सकता है। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यह सत् और असत् दोनों ही शब्द प्रकृति के लिए है और 'थी, 'नहीं थी, अर्थ रखते है। इस प्रकार सत और असत् सिद्धान्त वाले भौतिक कारणों ही से जगत् उत्पत्ति मानते हैं।

अन्ध विश्वास भी उपनिषदों में बहुत है—

'चोर का हाथ बाँध कर लाते हैं, राजा उसके हाथ में लाल गर्म लोहा देता है, यदि वह उससे जल जाता है तो चोर है।'[१]

१ यदि स्वप्न में स्त्री दीखे तो समृद्धि मिलेगी।[२] काले दांत वाला पुरुष दीखे तो मृत्यु होगी।[३]

"जैसे चन्द्रमा राहु के मुख से छुटता है।[४] सूखा काठ हरा करने वाली बाजीकरण औषधि को अपने पुत्र और शिष्य को भी न बतावे। ये सारी बातें बुद्धि विरोधी और अन्ध-विश्वासमूलक तथा आसुरी मिश्रण है।

सृष्टि रचना और स्वर्ग के सम्बन्ध में जो उपनिषदों के सिद्धान्त है वे सेमेरिक सिद्धान्तों से मिलते हैं। सृष्टि के प्रारंभ में सत था या असत् था या आत्मा थी। यह अनार्य सिद्धान्त ही है। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष यह वहिश्त और नजात की छाया है जो सेमेटिक दर्शन है।

गीता में कहा है कि असुर यह मानते हे कि यह संसार असत्य है, कोई ईश्वर नहीं है। मै ही ईश्वर हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मै ही सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ।[५] इसी से अपने शरीर की सेवा वे जीवन भर तथा मरने पर भी करते हैं। अब इस सिद्धान्त से वेदान्त का सिद्धान्त—'ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है,'[६] मिलाइये, तो आप देखेंगे कि यह शुद्ध आसुरी भाव है। गीता का 'ईश्वरोऽहम्' और वेदान्तियों का 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा उपनिषद् का 'एव आत्मेति', 'एतद् ब्रह्म' सब एकार्थवाची ही है। श्रीकृष्ण का ईश्वर की भांति पूजा जाना मनुष्य पूजा का एक ज्वलंत उदाहरण है। कृष्ण ही की भांति और भी मनुष्य पूजे जाते थे। असीरिया के असुर

---

१ यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने। (छान्दोग्य ५।२।९)

२ पुरुषं कृष्णदंतं स राजं हंति (छान्दोग्य)

३ चन्द्र इव राहुर्मुखात् प्रमुच्य (छान्दोग्य (८।१३।१)

४ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानितमेतं न पुत्राय वाऽन्तेवासिने वा ब्रूयात् (बृहदारण्यक (६।३।१२)

५ असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् (गीता १६।८)

ईश्वरोऽहं अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी (गी० १६।१४)

६ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। (वेदान्त)

वाणीपाल और नासिरपाल भी ऐसे ही राजा थे जिन्हें मनुष्य पूजते थे। उपनिषदों में भालुकी क्रौंचकी, आसुरायण, वैयाघ्रपदी यम-मृत्यु आदि असुर राजाओं और ऋषियों के नाम आते हैं। असुराचार्यों की वंशावलियां भी वहां मिलती हैं। उपनिषदों से यह भी पता लगता है कि ब्राह्मण और आर्यों से यह विद्या गुप्त रखी जाती थी।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ क्षत्रियों ने इस विद्या को स्वीकार किया था।[2]

---

१ न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति (छान्दोग्य (५।३।७)
अथेदं विद्येतः पूर्वं नकस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां (बृहदारण्यक ६।२।८)
२ सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत् (छान्दोग्य ५।३।७)

डा० हरदेव, बाहरी एम० ए०, डी० लिट्०

साहित्यिक हिन्दी का रूप

[विद्वान् लेखक के निष्कर्षों से कदाचित् ही कोई हिन्दी-प्रेमी असहमत होगा। कोई भी जीवित भाषा जन-सम्पर्क से दूर रह कर या जन-जीवन के प्राणद स्पर्श से अप्रभावित रह कर अधिक दिनों तक अपनी सत्ता बनाये नहीं रख सकती। इस दृष्टि से हिन्दी को भारतीय जीवन के संपर्क में अधिकाधिक आना पड़ेगा और अपनी बोलियों से उसे बहुत से शब्द ग्रहण करने होंगे, किन्तु लेखक ने जिन शब्दों में संस्कृत के समर्थकों को याद किया है, वे बहुत सुरुचिपूर्ण नहीं कहे जा सकते।—संपादक]

(१)

प्रयोग की दृष्टि से भाषा के तीन स्तर होते हैं—

१ बोलचाल की भाषा,

२. आदर्श भाषा, और

३. साहित्यिक भाषा

आदर्श भाषा बोलचाल की भाषा के निकट होती है । बोलचाल की भाषा मे उच्चारण, व्याकरण तथा शब्द-भांडार सम्बन्धी विविधता पाई जाती है। हर पाँच मील पर बोली बदल जाती है। आदर्श भाषा एक प्रकार से बोलियों की विविधता की औसत होती है। इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। बोलचाल की भाषा की अपेक्षा इसमें स्थिरता भी अधिक होती है। पढ़े-लिखे लोगों की, नगरो मे रहने वालो की, कचहरियो और कार्यालयों की, शिक्षा के माध्यम की यही आदर्श भाषा बोलचाल की भी भाषा होती है।

इसके ऊपर साहित्यिक भाषा होती है। वह आदर्श भाषा को परिष्कृत और मार्जित करते-करते इसी से विकसित होती है। उसमे स्थिरता और भी अधिक होती है। उसका क्षेत्र बोलचाल की भाषा के क्षेत्र के बाहर भी फैल जाता है। जो अंग्रेजी भारत, चीन, जापान आदि देशों में व्यवहृत होती रही है वह साहित्यिक अंग्रेजी ही है। साहित्यिक भाषा का साहित्य जितना अधिक समृद्ध और व्यापक होता है उतनी ही अधिक ग्राह्यता उस रूप की होती है।

भाषाओ के इतिहास की इस चेतावनी को ध्यान में रखना चाहिए कि जब कभी साहित्यिक भाषा आदर्श से दूर निकल जाती है, अथवा आदर्श भाषा जनभाषा से दूर हो जाती है तो वह मर जाती है। उसकी जगह कोई और भाषा उठती है जो जनभाषा के निकट होती है।

स्वयं हिंदी का विकास कैसे हुआ? किसी समय में संस्कृत हमारी साहित्यिक भाषा थी, लेकिन वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों ने उसे ऐसा जकड़ दिया कि उसका सम्पर्क जनभाषा से छूट गया। धीरे-धीरे उसका स्थान जनभाषा (प्राकृत) ने लेना आरंभ किया। संस्कृत क्रमशः बौद्धिक विलास की भाषा बन कर रह गई। साहित्यिक प्राकृत भी कुछ शताब्दियों बाद जन-प्राकृत से पिछड़ गई। उसे अपना स्थान अपभ्रंश को, अपभ्रंश को अपना स्थान व्रजभाषा को देना पड़ा। इसी तरह यदि रीतिकालीन कवियों की व्रजभाषा अपने आदर्श रूप से, अथवा व्रजमंडल में प्रचलित जनभाषा से, दूर न हट जाती तो खड़ी बोली को वह स्थान प्राप्त न हो सकता जो उसे मिल गया।

[२]

भाषा-शास्त्र के प्रकाश में हिन्दी का क्या स्वरूप होना चाहिए, इस पर कोई दो मत नहीं हो सकते। हिन्दी हिन्दी है। हिन्दी जिस तरह न मराठी है न बंगाली, उसी तरह हिन्दी न संस्कृत है न व्रजभाषा। जिस आदर्श को मान कर आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का उदय हुआ है वह खड़ी बोली है। अतः हमारी साहित्यिक हिन्दी खड़ी बोली से दूर नहीं जानी चाहिए, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि हमारी साहित्यिक भाषा का कोई रूप निश्चित नहीं हो पाया सदल मिश्र, सदासुखलाल, लल्लूलाल, इन्शाअल्लाह, राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद के समय में जो अनिश्चितता थी, वह पिछले एक सौ वर्षों से बराबर बनी रही है और आज भी बनी हुई है। अब भी साहित्यकारों की हिन्दी में पूरबी, पच्छाहीं, उर्दू, हिन्दोस्तानी और शुद्ध संस्कृत का रुझान पाया जाता है और किसी एक साहित्यकार की भाषा को आदर्श शैली की साहित्यिक हिन्दी नहीं कह सकते।

कुछ लोगों का कहना है कि साहित्यिक हिन्दी का रूप बन चुका है और अब प्रश्न ही नहीं उठता कि इसका रूप क्या हो। वे समझते हैं कि 'ने' 'को' 'में' 'से', 'होता', 'करूंगा', 'है' आदि के प्रयोग से संस्कृत भी हिंदी हो जाती है। हिन्दी क्षेत्र के पूर्वी मंडल के साहित्यिक संस्कृत-गर्भित हिन्दी से संतुष्ट हैं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि वे खड़ी बोली से बहुत दूर पड़ते हैं। उनकी नित्य की भाषा खड़ी बोली नहीं है। उनकी शिक्षा का माध्यम भी खड़ी बोली नहीं रही। उन्होंने खड़ी बोली रोजमर्रा और मुहाविरे का कभी अभ्यास नहीं किया। अतः जब वे लिखने बैठते हैं तो उनकी भाषा कृत्रिम, पंडिताऊ और संस्कृताश्रित हो जाती है। पश्चिमी प्रदेशों के साहित्यिक इस प्रकार की भाषा से असन्तुष्ट हैं, क्योंकि वे खड़ी बोली जानते हैं—उसका खून होते देखते हैं तो उन्हें दुःख होता है। यदि पंतजी का निम्नलिखित वाक्य हिंदी का कहा जायगा, तो भाषाविज्ञान की चेतावनी की दृष्टि में मुझे यह घोषणा करने में रत्ती भर संकोच नहीं कि हिंदी की मृत्यु * निश्चित है—

× कदाचित् लेखक भूल गए हैं कि पंतजी पूर्वी अंचल के नहीं, पश्चिम उत्तरी अंचल के हैं।—सं० १

* मेरी समझ से कोई ऐसी शक्ति नहीं जो इस शताब्दी में हिन्दी के विकास की गति रोक सके।—संपादक।

आज तृण, छद, खग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्वास,
अखिल आकुल उत्कलित अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश। (मधुवन)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक नमूना भी देखिये—

"सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता है, प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल मे, सिन्दूराभ सान्ध्य दिगञ्चल के हिरण्य-मेखला-मण्डित घनखण्ड में, तुषारावृत्त तुंग गिरि-शिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।"

इस प्रकार के बीसियों साहित्यकारों की कृतियों से उद्धरण दिये जा सकते हैं जो 'कादम्बरी' और 'नैषध चरित' की भाषा को मात कर दें। इस तरह का साहित्य जन-साहित्य नहीं कहला सकता। ईमानदारी चाहती है कि ऐसी भाषा को संस्कृत ही का नाम दिया जाये। मैं हिंदी में हिन्दीपन देखना चाहता हूं।

[३]

भाषा एक वाहन है जो वक्ता के विचारों और भावों को श्रोता या पाठक तक पहुंचा देती है। यदि वाहन गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँचाता तो उसे छोड़ ही देना पड़ता है। आज हम अपने साहित्य को जनसाधारण के अधिक निकट ले जाने की बात सोचते हैं। परन्तु जन-साधारण उस साहित्य को न पढ़ेंगे न समझेंगे जो 'ग्रीक' में लिखा होगा। जन-साहित्य के लिए जनभाषा चाहिए। संस्कृत में मुहाविरे नहीं, लोकोक्तियां नहीं, लोगों का जीवन नहीं, उसमें जान नहीं।*

मैं संस्कृत के समर्थकों से यह पूछना चाहता हूं कि जो कृति पाठक, दर्शक अथवा श्रोता की समझ से बाहर होती है, उससे आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है, उससे रस-संचार क्या होगा? उसकी प्रतिक्रिया क्या होगी? 'रेलवे सिगनल' की जगह 'लोह-पथ-गामिनी-पथ-प्रदर्शिका' और 'बिना काम के भीतर आना मना है' की जगह 'निरुद्देश्य प्रवेश विवर्जित' जो लोग चाहते हैं उनकी समझ को क्या कहा जाये! शोचनीय बात तो यह है कि आज हमें 'हिन्दी' शब्द की परिभाषा देने की भी आवश्यकता है। संस्कृत और हिन्दी के बीच में शताब्दियों का अंतर है। संस्कृत के सैकड़ों-हजारों शब्द और रूप पालि तथा प्राकृत में से होकर अपभ्रष्ट हुए

*** अपने मत की स्थापना के लिए लेखक को संस्कृत के सम्बन्ध में अपशब्दों का प्रयोग करने की आवश्यकता न थी। संस्कृत में मुहाविरे भी हैं, लोकोक्तियां भी हैं। उसकी व्यंजना-शक्ति असाधारण रही है और उसने भारतीय इतिहास के लम्बे युगों में राष्ट्र को एकता प्रदान की है और जनजीवन को संघटित किया है। इसी अंक में प्रकाशित श्री मुंशी का लेख इस विषय पर विशेष प्रकाश डालता है।—संपादक**

और फिर हिन्दी बने। यही उन शब्दों और रूपों का विकास है जो प्रयत्न-लाघव के नियम से आवश्यक ही नहीं हितकर भी हैं। लेकिन आज हम फिर उन्हीं पुराने क्लिष्ट त्यक्त शब्दों का उद्धार करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह उल्टी गंगा बहाना है। इससे हिन्दी का विकास रुक गया है। आज लोग हिन्दी नहीं सीखते, हिन्दी के नाम से संस्कृत सीख रहे हैं।

संस्कृत के ठेकेदारों का कहना है कि संस्कृत में शब्द-निर्माण की अद्भुत शक्ति है, इसलिए हिन्दी से काम नहीं चलता। इस बात को मैं भी मानता हूँ कि संस्कृत अपने उपसर्गों और प्रत्ययों के कारण बड़ी सम्पन्न और लचकदार भाषा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं है। हिन्दी के अपने अनेक उपसर्ग और प्रत्यय हैं—अनेक ऐसे भी जिन्हें हम जानते नहीं—हम ने कभी जानने का प्रयास ही नहीं किया। सच तो यह है कि संस्कृत की दासता के दबाव में हिन्दी का गला घुट गया। साहित्यिक हिन्दी का इतिहास है ही कितना इस पर संस्कृत का दासत्व !

[४]

हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप देने के लिए लोग संस्कृत का आश्रय ग्रहण करने की बात चलाया करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दी अब खड़ी बोली के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह गई है। भाषा में एकरूपता बनाये रखने के लिए संस्कृत अनिवार्य है। ये दोनों युक्तियां बेसमझी के कारण हैं। अंग्रेजी लंदन के आदर्श को लेकर विकसित हुई है। इसके आधुनिक विस्तार को देख कर कोई कहे कि साहब, अब अंग्रेजी लंदन या इंग्लैंड की भाषा ही नहीं रह गई, अतः अब इसके 'नीच जर्मन' रूप को पुनर्जीवित करना होगा। यदि एकरूपता यों ही लाई जा सकती है तो पूर्ण शुद्ध व्याकरण-सम्मत संस्कृत को ही राष्ट्रभाषा क्यों न माना जाये ?

जब हमने खड़ी बोली को (कुछ थोड़े-बहुत अंतर के साथ) आदर्श हिन्दी स्वीकार कर लिया है, तो जहाँ कहीं 'हिन्दी' नाम से कोई भाषा जायगी तो उसका वही रूप जायगा। मद्रासी, बंगाली, मराठी, पंजाबी, भोजपुरी, पहाड़ी, सभी को हिन्दी का वही आदर्श रूप ग्रहण करना होगा। इसी से एकरूपता भी आ जायगी। और. . .यदि एकरूपता पाने के लिए हिन्दी को अपना हिन्दीपन छोड़ना ही है तो फिर उस नवीन राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी क्यों हो ? हिंदी को वह राष्ट्रीय पद भी स्वीकार्य नहीं जो उसे हिन्दी बोलने वालों के लिए भी दुरूह, दुर्बोध और अग्राह्य बना दे।

जो समझते हैं कि संस्कृत शब्दावली के बाहुल्य से प्रान्तीय भाषायें एक दूसरे के निकट आ जायेंगी वे कुछ इने-गिने पढ़े-लिखों ही की बात सोचते हैं। जनसाधारण के लिए महाराष्ट्र में भी संस्कृत शब्द उतने ही दुरूह हैं जितने पंजाब, कश्मीर या मध्यप्रदेश में।

[५]

मेरा यह मन्तव्य नहीं है कि संस्कृत में हिंदी की अपेक्षा अधिक गुण नहीं हैं और न ही मैं यह चाहता हूं कि संस्कृत का बहिष्कार ही कर दिया जाये। ऐसा तो कोई भी नहीं सोच सकता। मेरा कहना यह है कि हमें हिन्दी से मोह होना चाहिए, संस्कृत का नहीं। हमें हिन्दी की शक्तियों

का विकास करना चाहिए। हिन्दी की बोलियां व्यावहारिक शब्दावली में संस्कृत से बहुत अधिक समृद्ध हैं। संस्कृत की शब्दावली ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, शास्त्रीय चर्चा में, गम्भीर चिन्तन में अधिक उपयुक्त और उपयोगी है। हिन्दी की शब्दावली ललित साहित्य के लिए इस समय में अधिक प्रभोवोत्पादक और उपयुक्त है। हिन्दी में हास्यरस की कमी इसीलिए है कि उसमें संस्कृत है। आधुनिक साहित्य इसीलिए लोकप्रिय नहीं हो रहा कि इसमें संस्कृत है। इसके उलटे, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरा, विद्यापति आदि का साहित्य इसी कारण से देश में, घर-घर में, व्याप्त है कि उसमें संस्कृत का बोझ नहीं है। संस्कृत विचारों का वाहन है—सभी विचार सर्व साधारण के नही होते। अपने-अपने विषय के पंडित अपने-अपने वर्ग के विचारों के लिए पारिभाषिक और गंभीर शब्दावली का आश्रय लेंगे ही। संस्कृत की उपयोगिता उसकी पारिभाषिकता मे है। इसी दृष्टि से हम पारिभाषिक शब्द सस्कृत से बनाते हो है। संस्कृत की लोच, संस्कृत की शब्द-निर्माण की शक्ति, शास्त्रीय विचारो की बारीकियों को व्यक्त करने के काम आ रही हैं। वह ऋषियों की भाषा है, देव भाषा है ना!

हिन्दी भावों का वाहन है—भाव सर्वसाधारण के प्राय. सामान्य होते हैं। इसीलिए तो जन-साहित्य का वाहन जन-भाषा ही हो सकती है। भाव-क्षेत्र साहित्य का क्षेत्र है और भावो का वाहन सर्वमान्य सजीव भाषा ही हो सकती है। हमारा आज का विषय ही यही है कि साहित्यिक भाषा का रूप क्या हो। साहित्य का यहाँ अर्थ है ललित साहित्य। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृत हो और कितनी हो, यह विचारणीय विषय नही है।

यह फिर याद रहे कि संस्कृत अतीत की भाषा है, हिन्दी वर्तमान की।

मेरा यह भी अभिप्राय नही कि हमें जनभाषा ही को लेना चाहिए और इससे आगे नहीं बढ़ना चाहिए। मैंने कह ही दिया कि जनभाषा के ऊपर आदर्श भाषा और उसके भी ऊपर साहित्यक भाषा होती है। साहित्यिक भाषा जनभाषा को विविध साधनों से संपन्न करती रही है। आप्त पुरुषों के शब्द, साहित्य के कर्मठ लेखकों के प्रयोग, अपनी भाषा की रिक्ति को भरने के लिए प्राचीन, देशी, विदेशी सभी भाषाओ के शब्द ग्रहण किये जाते हैं—ग्रहण करने पड़ते हैं। सजीव भाषा सभी भाषाओं से लेगी। सजीव प्राणी सब कुछ खाता है, मुर्दे के पेट में कुछ नहीं जाता। संस्कृत भले ही आज विदेशी शब्दों को न खपा सके (कभी तो वह भी खपा लेती थी) लेकिन हिन्दी की सजीवता नष्ट न की जाये तो अच्छा है। सजीव भाषा के पास जब कोई शब्द न होगा तो उसे जहाँ कहीं से वह उपयुक्त शब्द मिलेगा उसे स्वीकार्य होगा। फारसी, अरबी, अंग्रेजी के शब्द लेने चाहिए या नहीं, इसका निर्णय उपर्युक्त सिद्धांत कर देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शिक्षा के प्रभाव के कारण कई अपने शब्द दब जाते हैं, लेकिन धीरे धीरे जब वह प्रभाव हटता है तो अपने शब्द, जो जनसाधारण में बराबर बने रहते है, फिर से व्यवहार में आने लगते हैं। फारसी, अरबी, अंग्रेजी के बहुत से शब्द रह नहीं जायंगे। लेकिन बादाम, अनार, अमरूद, जलेबी, समोसा, कैंची, हलवाई, बटन, कालर, मोटर, कोट जैसे सैकड़ों विदेशी शब्दों के संस्कृत रूपांतर करना भी संकीर्णता और मूर्खता की पराकाष्ठा है। संस्कृत के शब्दों का भी साहित्यिक हिन्दी में यही स्थान

रहेगा। संस्कृत में हजारों ऐसे शब्द हैं जो हिन्दी में हैं ही नहीं, उन्हें साहित्यकार लेगा ही। लेकिन इन शब्दों का—संस्कृत और विदेशी सब का—हिन्दीकरण करना चाहिए, जैसे ब्रजभाषा करती रही है। खेद है कि इधर को प्रवृत्ति हिन्दी शब्दों का भी पुनर्संस्कृतीकरण करने की है। हिन्दी के सैकड़ों तद्भव शब्दों की जगह फिर से संस्कृत शब्दों का व्यवहार हो रहा है। यह प्रवृत्ति हिन्दी को मृत्यु की ओर ले जा रही है।

अन्त में मैं फिर भाषा-शास्त्र की चेतावनी दोहरा दूं—जो भाषा जनभाषा से और प्रचलित आदर्श भाषा से दूर पड़ जाती है वह मुर्दा हो जाती है और उसकी जगह जनभाषा के निकट को विकसित भाषा ले लेती है। हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि उसके साहित्यकारों का जनभाषा से घनिष्ट संपर्क नहीं है। वे हिन्दी बोलते नहीं, केवल लिखते हैं। हिन्दी के साहित्यकार को जहाँ यह चिन्ता होनी चाहिए कि जनता की शिक्षा का स्तर ऊंचा होता कि वह उसके साहित्य को समझ सके, वहाँ उसे जनता को भाषा में (ग्रामीण भाषा नहीं, सुसंस्कृत शहरी हिन्दी में), सोचना, बोलना और सांस लेना भी चाहिए। आज उसके सोचने-पढने की भाषा और है (अंग्रेजी, संस्कृत अथवा संस्कृतगर्भित विचारनिष्ठ हिन्दी), उसके बोलने की ओर है (भोजपुरी, मैथिली, अवधी, ब्रज या बघेली) और लिखने की और (कृत्रिम भद्दी हिन्दी, जिसमें प्राण नहीं)। जब उसके जीवन और साहित्य में साम्य और सामजस्य की स्थापना होगी तो साहित्यिक हिन्दी स्वयं बनेगी।

'कुसुम' कुलश्रेष्ठ

आधुनिक भारतीय चित्रकला में यथार्थवादी प्रयोग

कला के हर क्षेत्र में आज यही प्रतिध्वनि गूंजती है कि "कला कला के लिए है—का उद्घोष बन्द करो। जिस कला का जीवन में कोई उपयोग नहीं और जो किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष को मनोरंजन की सामग्रीमात्र प्रस्तुत करती है, वह कला मनुष्य के लिए व्यर्थ है, घातक है!" और इस कथन के साथ-साथ आज का कलाकार उस अतीत काल से प्रेरणा प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, जब धरती पर सभ्यता का जन्ममात्र हुआ था। सृष्टि के प्रारम्भ में, जब मनुष्य आज की तरह सुसभ्य एवं शिक्षित नहीं था, वह अपनी समस्त रागात्मक अनुभूतियों तथा कलात्मक प्रवृत्तियों का उपयोग जीवन के शिव पक्ष में किया करता था। आज वह कई हजार वर्षों का चक्कर लगा चुकने के बाद पुनः इतिहास को दुहराने का प्रयास करता जान पड़ रहा है। कला में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण घातक माना जाने लगा है। शिवं को व्यापकता प्रदान कर के कला के उपयोग का समाजीकरण हो रहा है। 'कला कला के लिए' का नारा लगाने वाला व्यक्ति समाज के लिए घातक समझा जाने लगा है। दूसरी ओर कलात्मक वृत्तियों को समाज के लिए प्रयोग करने वाला साधक एक महर्षि, एक योगी माना जा रहा है; क्योंकि उसकी तूलिका या लेखनी से उस जादू का सृजन होता है, जिससे समाज को प्रगति एवं विकास के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है, जिससे किसान के खेतों में फसल की मात्रा दुगुनी-तिगुनी हो जाती है, जिससे वैज्ञानिक अपने प्रयोगों मे साफल्य-लाभ करता है। मानव-समाज पर लगी नियति की क्रूर दृष्टि में वह कलाकार कोमल भावनाएँ उत्पन्न कर देने में सहज ही सफल हो जाता है।

आधुनिक कलाकार प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ता हुआ तथा अपनी स्वयं की नयी लकीरें बनाता आगे बढ़ता चला जा रहा है। मध्ययुगीन कलाकृतियों तथा आधुनिक कला-कृतियों का मौलिक अन्तर उनमें अभिव्यक्त उन दो प्रकार के विरोधी जीवनों का है, जिनसे कलाकार ने अपने-अपने युग मे प्रेरणाएँ प्राप्त की है। मध्ययुग में सुखी, समृद्ध राजसी परिवार का जीवन चित्रित करना ही कलाकार का आदर्श था; किन्तु वर्त्तमान युग के प्रारम्भ के साथ-साथ मध्यमवर्ग का जन्म और विकास होता गया, जिसे कलाकारों ने अपना आदर्श बना लिया। वस्तुतः आधुनिक युग में कलाकार की भावना, भाषा, शैली, रंग आदि

सभी कुछ बदलते गये। आज मध्यम वर्ग के जीवन में स्वयं एक घुमाव आ गया है और इसीलिए आज के कलाकार की अभिव्यक्ति में भी एक मोड़ पैदा हो गया है। मध्यम श्रेणी के समाज के सामने इस समय अनेक समस्याएँ हैं, जिसकी सफल अभिव्यक्ति हम आधुनिक कलाकृतियों मे सहज ही देख सकते हैं। आज के कलाकार में मध्ययुगीन कलाकारों की तरह अत्यधिक बुद्धिवादिता, कल्पना-तत्त्व तथा तर्क-संगतता नही मिलती। भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति ही उसका ध्येय होता है और इस ध्येय की प्राप्ति वह कम-से-कम समय में करने की चेष्टा करता है।

कला की सर्जना के सम्बन्ध मे प्रायः हम 'प्रतिभा' की बात कहा और सुना करते हैं। प्रश्न यह है कि आखिर यह प्रतिभा नामक वस्तु है क्या ? 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' वाली उक्ति से प्रायः लोग भ्रम मे पड कर समझ लेते हैं कि प्रतिभावान मनुष्य सम्भवतः साधारण व्यक्तियों से कुछ अधिक देख, सुन या अनुभव कर सकता है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नही है। प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार और साधारण मनुष्य में यह अन्तर कदापि नहीं कि कलाकार जनसाधारण से किसी स्थूल वस्तु का अधिक या तीव्र अनुभव कर सके अथवा उसकी दृष्टि में चयन, संचयन या समन्वय की क्षमता अधिक हो, अपितु वह केवल स्पर्श या अनुभव को स्वानुमानिक अभिव्यंजना देने में सफल हो जाता है; उसका प्राकृतिक क्रिया-कलापों के साथ ऐन्द्रिक अनुभव-गत सम्बन्ध ही नही होता, बल्कि वह अत्यन्त शीघ्र उनसे अपने सुविकसित आत्मचेतनात्मक सम्पर्क स्थापित कर लेता है।

भारत में यथार्थवाद का श्रीगणेश

आज की भारतीय चित्रकला का निरूपण करने के पूर्व उसकी पृष्ठभूमि समझ लेना परम आवश्यक है। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति ने अन्य देशों की भांति हमारे देश को भी बहुत प्रभावित किया है। ब्रिटिश शासन-काल में अंग्रेजी के माध्यम से हम पश्चिमी साहित्य का विशेष अध्ययन कर सकने में समर्थ हुए। परिणामस्वरूप हमारे समाज, राजनीति, दर्शन, साहित्य और कला पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। भारत में इससे पूर्व चित्रकला के क्षेत्र में मध्ययुगीन लकीरो को पीटा जा रहा था। उत्तर मध्ययुग मे कला और संस्कृति में जो विकृति आ गयी थी, उससे हर आदमी परिचित है। उछृंखल वासना और घोर व्यक्तिवाद का समावेश हो जाने के कारण साहित्य एवं चित्रकला दोनों का क्षेत्र बड़ा ही संकुचित एवं हेय बन रहा था। वास्तव में उस समय की कला-कृतियों में बाह्य आकर्षण तो अवश्य था; किन्तु प्राण नहीं थे। वे निर्जीव कठपुतलियों की तरह थीं, जो केवल अशिक्षित समाज को ही क्षण भर के लिए आकृष्ट कर सकती थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यही स्थिति हमारे देश मे चलती रही। राजा रवि वर्मा के चित्रों को उस समय सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों के रूप में देखा जाता था।

इसी समय देश में आर्य समाज का प्रबल आन्दोलन छिड़ गया। साथ-ही-साथ राष्ट्रीय

चेतना ने भी अपना उग्र रूप धारण किया। भारतीयों के हृदय में अपने देश, जाति और संस्कृति के प्रति आस्था जाग गयी। परिणामस्वरूप आचार्य अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने "ओरियण्टल स्कूल आव आर्ट" की नींव डाल दी। मध्ययुग के कलुषित वातावरण से ऊब कर कला-साधक कोई नवीन आध्यात्मिक मार्ग खोज निकालने की चिन्ता मे थे। आचार्य अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने अजन्ता की चित्रकला के आधार पर जिस नवीन शैली और भावधारा को प्रवाहित किया, उससे उस समय के लगभग सभी कला-मनीषी बडे प्रभावित हुए। देखने-ही-देखते बगाल की सीमा को लाघ कर कला का यह आन्दोलन समस्त उत्तरी भारत और बाद को दक्षिणी भारत मे फैल गया। अवनीन्द्र बाबू की कला का टेक्नीक तो बिलकुल अजन्ता पर आधारित था, किन्तु विषय-वस्तु की परिधि उन्होने बढा दी थी। समयानुसार भगवान तथागत, चैतन्य महाप्रभु, भगवान कृष्ण, मर्यादापुरुषोत्तम राम आदि पर चित्र तो अवश्य बनते रहे, लेकिन साथ-ही-साथ साधारण मनुष्यो के जीवन-चित्रो का अकन भी इस समय प्रारम्भ हो गया। इस धारा के पोषक कलाकारो मे कल्पना-शक्ति बहुत अधिक दिखायी देती है। प्रतीकवाद और अध्यात्मवाद का सहारा ले कर ये कलाकार उस जीवन का चित्राकन करते थे, जो सत्य तो माना जा सकता है, किन्तु सर्वांश में यथार्थ नही।

जिस समय बगाल मे ओरियण्टल स्कूल अपनी जडे जमाता जा रहा था, उसी समय बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑव आर्ट्स के विद्यार्थी पश्चिमी यथार्थवादी चित्रकला का अभ्यास कर रहे थे। वे व्यक्तियो के आकृति-चित्र (पोर्ट्रेट) और प्राकृतिक दृश्यो का वास्तविक अकन कर के ही अपने को सन्तोष दे लेते थे। धीरे-धीरे यही अभ्यास प्रयोगवादी यथार्थवाद मे परिवर्तित होने लगा। पाश्चात्य प्रतीकवाद, घनाकृतिवाद (क्यूबिज्म) और प्रतिभावनावाद (इम्प्रेशनिज्म) का शनै-शनै समावेश होने लगा, जिससे चित्रो मे कलात्मकता का तत्त्व अभिवृद्ध होता गया।

किसी भी वस्तु की स्थूल-वास्तविकता का साक्षात चित्र खीचनेवाली धारा का वेग हमारे देश मे बहुत अधिक नही बढ सकता, क्योकि हमारे कलाकारो मे चिन्तन-वृत्ति की मात्रा अधिक है। भारतीय शास्त्रियो का सदैव से मत रहा है कि किसी कलाकृति अथवा काव्य में यदि मानसिक भोजन का सर्वथा अभाव है, तो वह अगर अकलात्मक नही, तो कम-से-कम कला की वस्तु कभी नही कही जा सकती। अस्तु, स्थूल वास्तविकतावाद में चिन्तन-तत्त्व अर्थात् आध्यात्मिकता का पुट आवश्यक था। इस दिशा में सब से पहला कदम कुमारी अमृत शेरगिल ने उठाया। शेरगिल के चित्रो में विषय-वस्तु के यथार्थवादी चित्रण के साथ-साथ भावनाकूल वातावरण तथा भाव-भगिमाए समाविष्ट थी। उन्होने अपने विषय एव शीर्षको में भी भारी क्रान्ति की। सर्वहारावर्ग के पारिवारिक जीवन का चित्रण, कृषक वधू की कारुणिक मुखाकृति, भारत माता का दयनीय, करुण चित्र आदि उनके वर्ण्य-विषय थे। अमृत शेरगिल की कला में प्रगतिवादी तत्वो का समावेश हमारे देश मे समय से पूर्व ही हो गया था, इसलिए प्रारभ में हमारे कला-समालोचकों ने उनकी तीव्र एव कटु आलो-

परछाइयाँ — चित्रकार—श्री एन० एम० बेण्ड्रे (बम्बई)

तरुणी — कलाकार—श्री फ्रांसिस न्यूटन (गोआ—बम्बई)

कबूतरों का जोड़ा चित्रकार—श्री चगताई (लाहौर)

अवकाश के समय : चित्रकार—श्री कानाड़ीवाला (अहमदाबाद)

ध्यानमग्ना : चित्रकार—श्री भावेश सान्याल (लाहौर

व्यक्त करते हुए उन्हें परिवहीन, अश्लील और अभारतीय आदि विशेषणों से विभूषित कर दिया। शेरगिल के समय में अक्षमण्यों का जीवन संघर्ष-विहीन और गति-रहित था, इसीलिए वह उनका वर्ण्यविषय न हो सका।

चित्रकला के क्षेत्र मे कुमारी शेरगिल ने प्राचीन रूढ़ियो को एकदम तोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने विषयो के अतिरिक्त रंगो में भी गम्भीर परिवर्तन किया। ओरियण्टल स्कूल के कलाकार "वाश" शैली में बिना प्रकाश-छाया का चित्रण किये चित्रांकन करते थे। अधिकांशत हलके एक से रंगो को लगा कर रेखाओं द्वारा प्रकाश-छाया का अन्तर दिखाने की परम्परा थी, जैसा कि अजन्ता के चित्रो मे हमें मिलता है। शेरगिल ने पाश्चात्य टेकनिक (विधि) और भाव-धारा को अपना कर दृश्य वस्तुओं का वास्तविक अकन प्रारंभ किया। बौद्ध एवं वैष्णव कालीन आध्यात्मिकता को परित्याग कर एक नवीन प्रगतिवादी जीवन-दर्शन का समारम्भ उनकी कला की विशेषता थी।

एक समय था, जब अमृत शेरगिल ने भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में एक तूफान पैदा कर दिया था। उनका विचार था कि अजन्ता की कला में बहुत तत्व हैं, मुगल चित्रकारी मे भी कलात्मकता की कमी नही, किंतु आचार्य अवनीन्द्र तथा हेवैल द्वारा सचालित एवं सम्पादित नयी धारा बिलकुल असफल और व्यर्थ है। वास्तव में ये विचार उनके अपने मौलिक नही थे। उस समय कला-समालोचकों में एक वर्ग था, जो पाश्चात्य जीवन, सभ्यता और कला से विशेष प्रभावित था। उसका यह विचार था कि हमें विज्ञान की तरह कला के क्षेत्र मे भी पश्चिम को अपना आदर्श बना लेना चाहिए। शेरगिल ने कला की शिक्षा यूरोप में ही पायी थी, इसलिए उनके लिए यह नितान्त स्वाभाविक था कि पश्चिमी रहन-सहन, मान्यताओं-धारणाओ तथा जीवन-व्याख्या को श्रेष्ठतर समझें। इसका यह अर्थ कदापि नही कि उन्हें भारतीय चित्रकला का बिलकुल ज्ञान नही था। वह उसके सम्बन्ध मे पूरी जानकारी रखती थीं, लेकिन आधुनिक समय मे आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की विचार-धारा का पोषण करना भयंकर भूल मानती थी।

कुमारी अमृत शेरगिल एक प्रतिभावान कलाकार थी। उन्हे आकार और रंगों का बड़ा अच्छा ज्ञान था। यूरोप में शिक्षा प्राप्त करने के कारण वह गागुइन, सीजेन तथा वैगाफ आदि पाश्चात्य कलाकारों से बहुत अधिक प्रभावित थीं। इन चित्रकारों का अनुकरण उनकी कृतियो में स्पष्ट दिखायी देता है। उनकी विशेषता रंगो के निखार और आकृतियो के ठोसपन में दिखाई देती है। नारी आकृतियो को प्रमुख रूप से बड़े ही कलात्मक ढंग से उन्होंने अंकित किया है। यूरोप के इम्प्रेशनिस्ट (प्रतिभावित) कलाकारों के ठीक विरोधी रंगो का प्रयोग अमृत शेरगिल ने अपने चित्रो मे किया है। इम्प्रेशनिस्ट (प्रतिभावित) कलाकार प्रकाश-छाया का समन्वित वातावरण बनाने के लिए रंगो से एक धुधलका-सा तैयार करता है, जिसमें आकृतियां दब जाती हैं, किन्तु शेरगिल ने इम्प्रेशनिस्ट (प्रतिभावित) धारा की इस विशेषता का विरोध किया। यूरोप में स्वयं इम्प्रेशनिस्टो (प्रतिभावितो) के विरुद्ध आन्दोलन जोर पकड़ चुका था

और वहां के कलाकार ठोस आकृतियों का अंकन स्पष्ट, गहरे रंगों से करने लगे थे। उन्हीं का प्रभाव अमृत शेरगिल के ऊपर भी था। फिर भी भारतीयता का दामन उन्होंने नहीं छोड़ा। उनके "पंजाबी बालिकाएँ" शीर्षक चित्र में रंगों का मिश्रण एवं समन्वय सचमुच बड़ा सराहनीय है।

इन्हीं दिनों आचार्य अवनीन्द्र के शिष्य देवीप्रसाद रायचौधरी ने अपने चित्रों में कुछ पाश्चात्य तत्वों का समावेश करके एक नये प्रकार के टेक्नीक का प्रयोग प्रारम्भ किया। दूसरी ओर पंजाब में अब्दुर्रहमान चग़ताई के नये प्रयोगों की चर्चा होने लगी। चग़ताई ने भी ओरियण्टल आर्ट की शैली में कुछ नवीनता और वास्तविकता का पुट दे कर नये प्रकार का टेक्नीक चला दिया। रायचौधरी और चग़ताई दोनों में टेकनीक में यथार्थवादी तत्व का आंशिक समावेश अवश्य किया; किन्तु दोनों की कला में परस्पर घोर अन्तर दिखायी देता है। रायचौधरी ने जीवन की गति-शीलता और संघर्ष का चित्रण पाश्चात्य प्रकाश-छाया के साथ-साथ प्रारम्भ किया। उनके 'ठेलागाड़ी' शीर्षक चित्र में मजदूरों की आकृतियां बड़ी ही सजीव और कलात्मक हैं। उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग तथा मुख पर अंकित भंगिमाओं में बहुत तीव्र संघर्ष एवं गतिशीलता व्यक्त है। इतना सब होने पर भी रायचौधरी के चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी रूढ़िवादी भारतीय कलाकार के बनाये हुए हैं; क्योंकि उनमें स्थूलता के साथ-साथ सुस्पष्टता बहुत अधिक है। दूसरी ओर चग़ताई ने ग्रामवधू, ग्रामीण नाच-गाने आदि के चित्र बना कर रूढ़िवादी विषय-वस्तु को बदल दिया। अवनीन्द्र द्वारा सचालित विचारधारा का पोषण करते हुए भी उनकी आकृतियों में अपनी एक अलग विशेषता है, जो उन्हें ओरियण्टल स्कूल के कलाकारों से अलग कर देती है।

नवीन प्रयोग

सब से पहले पाश्चात्य इम्प्रेशनिस्ट (प्रतिभावित) विचारधारा का प्रभाव भारतीय चित्रकला में नवीन प्रयोगों के रूप में हमारे सामने आया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप में इम्प्रेशनिज्म (प्रतिभावनावाद) का बड़ा बोलबाला था। इस विचारधारा के कलाकारों के लिए केवल ठोस वस्तुओं का ही महत्त्व नहीं था, बल्कि उसके चारों ओर का वातावरण भी उतना ही महत्वपूर्ण था। वातावरण की प्रभावोत्पादकता बढ़ाने के लिए ये कलाकार रंगों का इस प्रकार प्रयोग करते थे कि सम्पूर्ण चित्र में एक धुंधलापन-सा आ जाय। कन्वास या कागज पर तसवीर बना कर उसमें अपने इच्छानुकूल रंग भर लेने के बाद वे सारे चित्र पर विभिन्न रंगों की 'टोनिंग' करते थे। रंग की गहराई बढ़ाने के निमित्त उन्हें गहरे रंग लगाने की आदत नहीं थी, बल्कि हलके रंग को ही बार-बार दस, बारह, पन्द्रह बार 'टोन' करने से रंग की गहराई के साथ-साथ एक गम्भीर वातावरण की सृष्टि हो जाती थी। प्रभावोत्पादकता की वृद्धि के लिए एक बात का ध्यान और भी रक्खा जाता था, वह था विभिन्न रंगों का मिश्रण। यों सभी लोग जानते हैं कि नीला और पीला रंग मिश्रित कर देने

से हरा रंग बन जाता है। इम्प्रेशनिस्ट धारा के पूर्व यूरोप तथा भारत में हरे रंग का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सीधे उसी रंग को या प्याली में नीले और पीले रंग को मिला कर तूलिका से चित्र में लगाने की परम्परा थी। इम्प्रेशनिस्ट (प्रतिभावित) कलाकारों ने अनुभव किया कि यदि पीला और नीला रंग अलग-अलग घोल कर प्यालियों में रख लिया जाय, और पहले चित्र पर कोई एक रंग लगा दिया जाय तथा उसके सूख जाने के बाद उसी के ऊपर दूसरा, तो उससे जो हरा रंग चित्र में आता है, वह अधिक प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक होता है। इसी प्रकार अन्य मिश्रित रंगों के लिए भी उन्होंने प्रयोग किया।

इम्प्रेशनिष्ट (प्रतिभावित) विचारधारा के कलाकारों का मत था कि चित्र में सब से महत्वपूर्ण अंग है प्रकाश। और प्रकृति में रेखायें नहीं हैं; अतएव चित्रों में रेखाओं का समावेश नहीं होना चाहिए। सारा चित्र 'अस्पष्ट'-सा रहना चाहिए। हमारे देश में इस धारा के अक्षरशः पोषकों में कोई उल्लेखनीय कलाकार नहीं हो सका; किन्तु इसका प्रभाव विशेष रूप से तत्कालीन ओरियण्टल धारा के चित्रकारों पर अवश्य पड़ा। वातावरण का धुंधलापन और रंगों से "टोनिंग" की प्रथा खूब चल पड़ी; लेकिन रेखाओं का एकदम बहिष्कार वे न कर सके। यों इधर-उधर छोटे-मोटे चित्रकारों ने इम्प्रेशनिस्ट शैली में वास्तविक प्रयोग अवश्य किये; परन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली और न उस समय के कला-पारखियों ने उनके शिशु-प्रयासों का स्वागत ही किया। यूरोप में स्वयं इम्प्रेशनिस्ट धारा अल्पकाल तक प्रवाहित हो कर समाप्त हो गयी और उसके स्थान पर "पोस्ट-इम्प्रेशनिज्म" का प्रभाव बढ़ने लगा।

'पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट' धारा

भारत में इम्प्रेशनिस्ट और ओरियण्टल शैली के विरुद्ध चित्र-जगत में एकाएक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यूरोप में सीजेन, गागुइन और वैंगाफ—जैसे प्रतिभाशाली कलाकारों ने इम्प्रेशनिस्ट विचारधारा और टेक्नीक के प्रति विद्रोह किया। इम्प्रेशनिस्ट धारा के चित्रों में दृश्य-वस्तुओं का अनिश्चित अंकन और रेखाओं तथा मुखाकृतियों पर व्यक्त स्पष्ट भावनाओं के चित्रण का बहिष्कार ये कलाकार न सहन कर सके। उन्होंने चित्र में बनाये गये दृश्य-पदार्थों को प्राथमिकता देते हुए वातावरण को नितान्त गौण माना। स्त्री-पुरुषों के मुख पर अंकित संघर्ष, हर्ष, विषाद, चिंता आदि भावनाओं की व्यंजना को प्रमुख मान कर पोस्ट-इम्प्रेशनिस्ट कलाकारों ने मानववाद की नवीन धारा प्रवाहित की। इससे उनके विषय-वस्तुओं और शीर्षकों में भी घोर क्रान्ति हो गयी। कलाकार ने पहली बार अपने चारों ओर की दुनिया को देखने तथा उसके विभिन्न दृश्यों और घटनाओं को अपने चित्रों का विषय बनाने का संकल्प किया। साधारण स्त्री-पुरुषों के कलात्मक, भावुकतापूर्ण चित्र, प्राकृतिक दृश्यों का रोमांचकारी अंकन पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट धारा की देन हैं।

इस धारा के पोषकों में हमारे देश में सर्व प्रथम थीं कुमारी अमृत शेरगिल। देवीप्रसाद रायचौधरी ने भी इसके टेक्नीक को आंशिक रूप में ग्रहण किया। बम्बई के कुछ कलाकार भी

उस समय इस दिशा में बराबर प्रयोग करते रहे। लेकिन भारत में आचार्य अवनीन्द्र तथा उनके शिष्य नन्दलाल बसु का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण अभी थोड़े दिन पूर्व तक इस शैली और विचारधारा का हार्दिक स्वागत न हो सका। कुमारी शेरगिल को अपने समय में न जाने कैसी-कैसी कटु आलोचनाओं का सामना करना पड़ा।

कुमारी शेरगिल के कई वर्ष बाद तक कलाकार के क्षेत्र में पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट धारा का आन्दोलन लगभग मौन-सा रहा। फिर आचार्य अवनीन्द्र का प्रभाव शनैः-शनैः कम होने लगा और अचानक यथार्थवादी विचारधारा जोर पकड़ने लगी। पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट कलाकारों ने फिर शक्ति-संग्रयन प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप चित्रकला के क्षेत्र में इस धारा के अनेक उत्कृष्ट कलाकार सामने आये। एस० एच० रजा, भानु स्मार्त और भावेश सान्याल-जैसे तरुण कलाकारों की कृतियां सार्वजनिक सम्मान प्राप्त करने लगीं। इन कलाकारों की प्रमुख विशेषता थी कम-से-कम समय में एक कलाकृति तैयार कर देना। मध्यमवर्गीय समाज तथा प्राकृतिक दृश्य इनके विषय थे। गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन को छोड़ कटु यथार्थवाद का पुट दे कर सामान्य मार्मिकता उत्पन्न कर देना ही इन चित्रकारों की कला की सफलता थी। रजा ने खुले शब्दों में अपनी कला में स्वर्गीया कुमारी शेरगिल का प्रभाव स्वीकार किया। ग्रामीण भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रांकन रजा की अपनी चीज है। उनका कहना है कि भारत के गाँव ही कला के उपयुक्त विषय हैं, वहाँ जीवन का जो सत्य है, वह वास्तव में मनुष्य के लिए शिवं के साथ-साथ सुन्दर भी है। भानु स्मार्त प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विशेष रूप से प्रभावित हो गये। उनके चित्रों में सर्वहारा वर्ग का संघर्ष, विकास एवं गतिशीलता की सहज अभिव्यक्ति हमें मिलती है। भावेश सान्याल ने इस क्षेत्र में नये प्रकार के यथार्थवादी प्रयोग किये। उन्हें आंशिक रूप से हम यथार्थवादी तथा प्रयोगवादी भी कह सकते हैं। उनका "अछूत बालिका" और "छुट्टी के दिन" शीर्षक चित्रों को सार्वजनिक महत्त्व प्राप्त हुआ।

विज्ञान की प्रगति के कारण जीवन में समय का तत्त्व प्रमुख हो गया। मनुष्य के पास किसी कार्य के लिए (चाहे वह कला ही क्यों न हो) अधिक समय नहीं रह गया। इसीलिए इस युग में यथाशीघ्र कम-से-कम तूलिका-संचालन से एक नया चित्र बना देना कलाकार के लिए श्रेय की वस्तु हो गया। उपर्युक्त सभी कलाकारों में इस विशेषता के दर्शन होते हैं।

राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव

पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट धारा के ऊपर राष्ट्रीय चेतना का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। कलाकारों ने अपनी रेखाओं और रंगों को राष्ट्रीयता का बाना पहनाना प्रारम्भ कर दिया। एम० एस० बैण्ड्रे ने बंगाल के अकाल पर "आवश्यकता से मुक्ति" शीर्षक एक चित्रमाला बनायी, जिसका कला-जगत में बड़ा स्वागत हुआ। बैण्ड्रे को यों प्रकृति से विशेष प्रेम था; इसीलिए उन्होंने काश्मीर की घाटी, नैनीताल के प्राकृतिक दृश्य, उटकमण्ड की पहाड़ियां, मसूरी, अमरनाथ के

पर्वत-शृंग, ओंकारेश्वर आदि चित्र बनाये। "प्रार्थना सभा में गांधी जी" भी उनका राष्ट्रीय चित्र है।

ओरियण्टल धारा के यशस्वी कनु देसाई पर गांधीजी के आन्दोलनों तथा जीवन-व्यवस्था का बड़ा प्रभाव पड़ा। देसाई साधारणतः राम और कृष्ण के चित्र बनाते थे, किन्तु गांधीजी के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर उन्होंने बापू की दाण्डी यात्रा, आत्म-चिन्तन में लीन महात्माजी, सेवाश्रम में गांधीजी आदि अनेक चित्र बना कर बड़ी ख्याति अर्जित की।

पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट धारा में प्रगतिवादी चित्र बनाने का सफल श्रेय वास्तव में मनोहर जोशी को है। काश्मीर युद्ध के विभिन्न दृश्य, भारतीय नौसैनिक विद्रोह आदि का चित्रण कर के जोशी ने कलाकार की विषय-वस्तु की परिधि को बहुत बढ़ा दिया। "गोआ का राजमार्ग" उनका एक बड़ा ही प्रसिद्ध चित्र है। "पगड़ी" चित्र में उन्होंने स्वयं अपनी कला को एक घुमाव दे कर नवीन दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश की है। यह चित्र प्रयोगवादी धारा के अन्तर्गत सहज ही लिया जा सकता है।

प्रयोगवादी यथार्थवाद

पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट धारा के साथ-ही-साथ एक नयी धारा का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। इस धारा को पारिभाषिक सकीर्णता में बाँध कर इसके क्षेत्र को संकुचित करने की धृष्टता अभी तक कोई समालोचक नहीं कर सका है। यह धारा है यथार्थवादी प्रयोगात्मक शैली। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही कला अपनी भावनाओं की नयी अभिव्यक्ति और उस अभिव्यक्ति का नया टेक्नीक और नयी शैली खोज रही थी, अतएव साहित्य के समान चित्र-कला में भी नये-नये प्रयोग प्रारम्भ हुए जिन्हें प्रयोगवाद की संज्ञा आज दी जा रही है।

इस समय अन्य कलाओं के समान चित्रकला के क्षेत्र में जीवन के प्रति दो प्रमुख दृष्टिकोण पनप रहे हैं—समष्टिवादी और व्यष्टिवादी। समष्टिवादी दृष्टिकोण के समर्थक कलाकार समस्त समाज की सामूहिक प्रगति और विकास में विश्वास करते हैं। उनका संघर्ष एक का नहीं, सब का है। जिन समस्याओं को वे अपना वर्ण्य-विषय बनाते हैं, वह सारी मानव-जाति की समस्याएँ होती हैं। जातीयता या राष्ट्रीयता की संकीर्ण परिधि को लाँघ कर समष्टिवादी कलाकार विश्व-बन्धुत्व की भावना को अपनी तीव्र कल्पनाओं द्वारा अनुप्राणित करने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर हैं व्यष्टिवादी कलाकार, जिनकी आस्था व्यक्ति की प्रगति एवं विकास में है। उनकी कला किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष को उत्थान की दिशा इंगित करने के लिए ही होती है। उनका विश्वास है कि व्यक्ति से ही समाज की रचना होती है, इसलिए उसीकी समस्याएँ, चेतनाएँ, मान्यताएँ, कल्पनाएँ आदि समाज को प्रभावित कर मनोनुकूल दिशा में घुमा सकने में समर्थ हो सकती हैं।

समष्टिवादी चित्रकार प्रगतिशील अर्थात् समाजवादी विचारधारा का पोषण करते हुए ऐसे चित्र बनाने में संलग्न हैं जो किसी वर्ग या राष्ट्र विशेष की सामान्य सांस्कृतिक चेतना

भाव के प्रतीक नहीं कहे जा सकते। ये कलाकार आध्यात्मिक चिन्तन, अमूर्त प्रतीकवाद और स्वप्निल कल्पना-लोक का एकदम बहिष्कार करते हैं। स्थूल जगत के यथार्थवादी चित्र बना कर उनमें समाज के विरोधी तत्वों एवं प्रवृत्तियों का संघर्ष अंकित करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। इस विचार-धारा का पूरी तौर से अनुकरण करने वाले सफल चित्रकार हमारे देश में नगण्य है।

व्यष्टिवादी प्रयोग हमारे देश में इस समय बहुत हो रहे हैं।

उपर्युक्त दोनों विचारधाराएँ प्रयोगवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत आती हैं। इस नवीन वाद के सर्वोत्कृष्ट कलाकार हैं यामिनी रॉय। कला के क्षेत्र में यामिनी रॉय एक पोर्ट्रेट पेण्टर के रूप में सब से पहले आये। बाद को उनपर आचार्य अवनीन्द्र के टेक्नीक तथा शैली का प्रभाव पड़ा और वह ओरियण्टल आर्ट के चित्र बनाने लगे। किन्तु उससे उन्हें आत्म-सन्तोष नही हुआ। अचानक उनका ध्यान बंगाल की लोक-कला की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने महसूस किया कि युद्ध-श्लथ मनुष्यता को, कला में सामान्य, सीधी किन्तु सुन्दर वस्तु की आवश्यकता है और वह वस्तु लोककला में सहज सुलभ है। तत्कालीन समालोचकों की दृष्टि उनपर तुरन्त पड़ी और कुछ आलोचक उन्हें 'फरेबी' और कुछ 'अति उच्च कलाकार' की उपाधि देने लगे। यामिनी रॉय को इन कटु-मधुर आलोचनाओं की तनिक भी परवाह नहीं थी। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बराबर लगे ही रहे और आज वह दिन आ चुका है, जब कि उन्हें भारत ही नही, बल्कि विदेशों में भी आधुनिक चित्रकला का एक सशक्त स्तम्भ माना जाता है।

यामिनी रॉय के "माता और पुत्र", "तीन ढोल बजाने वाले", "काला घोड़ा", "तेंदुए पर सवार", "हिरन और कुटी", "गणेश तथा पार्वती" आदि अनेक ऐसे चित्र है, जिनकी सारे संसार में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है।

मियानी रॉय की कला में कोई विशेष मौलिकता न होते हुए भी बड़ा आकर्षण एवं सौदर्य है। उनका प्रभाव आज के असंख्य तरुण कलाकारों पर पड़ा है और फलस्वरूप उन्हीं का अनुकरण करते हुए लोक शिल्प का नवीनीकरण आज अनगिनत हाथों द्वारा होता जा रहा है।

बंगाल के तरुण कलाकारों में स्वतंत्र विचारों के पोषक मनीषी देने कला के क्षेत्र में अपना अलग स्थान बना लिया है। उनकी मौलिक प्रतिभा और अद्वितीय चित्र-शैली ने उन्हें जो ख्याति दी है, वह अन्य कोई युवक कलाकार न प्राप्त कर सका। भारत के विभिन्न वर्ग, धर्म और वर्णों की महिलाओं का अध्ययन एवं अंकन उनकी प्रेरणा की वस्तु रहे हैं। मनीषी दे का अपना अलग टेक्नीक है, अपनी अलग शैली है, जिसपर उनके आदि-गुरु आचार्य नन्दलाल बसु का तनिक भी प्रभाव नहीं दिखायी देता। उनके "शृंगार", "श्रद्धा", "मुक्ति" और "वानरदल" आदि कुछ ऐसे चित्र हैं, जिनकी ख्याति देश की सीमाओं को लाँघ कर विदेशों तक पहुँच चुकी है।

प्रयोगवादी धारा के अन्तर्गत के० के० हिब्बर की देन अद्वितीय है। उन्होंने चित्रकला में अनेक प्रकार के नवीन प्रयोग कर के नये टेक्नीकों को जन्म दिया है। पाश्चात्य यथार्थवादी

फोटो शैली और भारतीय कल्पना एवं भावुकतापूर्ण शैली का सहज सामंजस्य कर के हिंबर ने अति नवीन प्रयोग कर दिखाए हे। "त्रिवुर मन्दिर में हाथियों का जुलूस", "कुलू का नृत्यपर्व' तथा कतिपय मानवाकृति चित्र (पोर्ट्रेट) उनकी इस नवीन शैली के प्रतिनिधि हैं। उनके कुछ चित्र इम्प्रेशमिस्ट धारा के भी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ तसवीरों में अमूर्तवाद का प्रतिपादन भी इस कलाकार ने बड़ी सफलता से किया है।

बंगाल के एक अन्य प्रयोगवादी कलाकार गोपाल घोष का नाम आधुनिक चित्रकला-जगत मे सदैव गौरव के साथ लिया जायगा। गोपाल घोष ने आचार्य अवनीन्द्र के शिष्य देवीप्रसाद रायचौधरी से कला की शिक्षा प्राप्त की है। रायचौधरी स्वयं अपने गुरु की बनायी लीकों को त्याग कर नवीन टेक्नीक की खोज मे बहुत पहले से नये प्रयोगों में व्यस्त हो गये थे; इसलिए उनके शिष्य के हृदय में नवीनता की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। गोपाल घोष की ड्राइंग बड़ी साफ-सुथरी और स्पष्ट होती है, उसमें मुख पर अंकित भाव-भंगिमा सदैव प्रमुख रहती है। वाह्य सज्जा एव काल्पनिक आडम्बर को चित्रो मे स्थान न दे कर सादगी और सफाई द्वारा उन्होंने नये प्रकार की धारा का श्रीगणेश किया है। उनके चित्रों मे रेखाएँ बहुत कम होती हे। पशु-जगत का विशेष अध्ययन कर के पशुओं का चित्रण घोष का अपना विषय है। "स्नान के बाद" उनका ख्यातिप्राप्त चित्र है। रोमाण्टिक विचारों को प्रश्रय देने के बाद भी वे बहुत ही आधुनिक और मौलिक है।

आधुनिक कला-जगत में प्राणनाथ मागो का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होने अनेक प्रकार के नये प्रयोग कर के स्वयं प्रयोगवादी चित्र शैली की परिधि बड़ी व्यापक बना दी है। "ढोल बजाने वाले", "पतंग", "भैंसों का स्नान" आदि उनके चित्रों में ये नये प्रयोग हमें मिलते हैं। गहरे स्पष्ट रंगों का प्रयोग और अस्पष्ट असमाप्ति मागो की कला के आकर्षक अंग हे।

उपर्युक्त सुप्रसिद्ध प्रयोगवादी कलाकारों के अतिरिक्त पौराणिक कहानियो को आधुनिक रूप में प्रस्तुत करने वाले रवि शंकर रावत, ग्राम्य एवं पार्वत्य जीवन के सफल चित्रकार मोरारजी सम्पत, नयी शैली मे चरित्रांकन करने वाले चावडा तथा नयी दिशा में सदैव नवीन प्रयोगों के पुजारी ललित मोहन सेन प्रभृति कलाकारों का योग आधुनिक कला में चिरस्मरणीय है।

प्रयोगवादी चित्रकला का प्रमुख तत्व है जीवन का यथार्थ-दर्शन। ये कलाकार भौतिक-वाद के पोषक है और प्राचीन रूढ़िवादी आध्यात्मिक आत्म-चिन्तन का कला में सर्वथा बहिष्कार करते हैं। मनुष्य के मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक संघर्ष को प्रतीकों से व्यक्त करने का टेक्नीक यद्यपि काफी पुराना है; तथापि इन कलाकारो के नवीन रूपकों ने उसे एक नया वस्त्र पहना दिया है। इधर कुछ कलाकारों ने घनाकृतिवादी (क्यूबिज्म) शैली को अपना कर उसमें भी नये-नये प्रयोग किये हैं। घनाकृतिवाद में किसी चित्र को केवल बहुत-से घनों की

आकृतियों का अंकन कर के सम्पूर्ण कर दिया जाता है। इसका एक अपना अलग टेक्नीक और शैली है।

धीरे-धीरे फ्रांस के "अतिशय-यथार्थवाद" का प्रभाव भी हमारे देश में बढ़ता जा रहा है। कुछ तरुण शिल्पी पिकासो-जैसे पाश्चात्य अतिशय यथार्थवादी कलाकार का अनुकरण करने का प्रयास कर रहे हैं और आशा है, शीघ्र ही यह धारा भारतीय चित्रकला-क्षेत्र में पूर्ण वेग से प्रवाहित हो उठेगी।

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा

आधुनिक हिन्दी काव्य की नई व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां और उनकी पृष्ठभूमि

वर्तमान युग व्यक्ति और समाज के संघर्ष का युग है। वैज्ञानिक आविष्कारों एवम् विकासवादी प्रवृत्तियों ने आज जीवन की मान्यतायें बदल दी हैं, उपकरण और आदर्शों के द्वन्द्वात्मक संघर्षों ने नूतन और पुरातन में संघर्ष प्रस्तुत कर दिया है। पुरानी परम्परायें टूट रही हैं और आज व्यक्ति की, समाज की और जीवन की सीमायें विस्तार पा रही हैं। विश्व-चेतना की अभिव्यक्ति आज जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवम् राजनैतिक आन्दोलन में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। एक ओर व्यापक जीवन की आस्थायें एक सामूहिक चेतना को प्रेरणा दे रही हैं दूसरी ओर व्यक्ति की अंतर्मुखी चेतना उसके व्यक्ति-वृत्ति में समा जाना चाहती है। व्यक्तिवादी अहम् (Personal Ego) समाज के 'सामूहिक अहम्' (Social Ego) से समन्वय स्थापित करने के प्रयास में जीवन के तथाकथित सत्यों को नये माध्यम से देखने की चेष्टा करता सा प्रतीत हो रहा है। जीवन की इस विस्तृत प्रवृत्ति को कुछ लोग 'सत्यान्वेषक प्रवृत्ति' कहते हैं और कुछ इस सत्य अन्वेषण की आड़ में अपनी व्यक्तिवादी अंतर्मुखी चेतना की ऊर्द्ध्वमुखी निष्ठा में लीन हो जाना ही प्रगति मानते हैं किन्तु यह प्रश्न रह ही जाता है कि वह कैसा सत्य है जिसके अन्वेषण में ये सत्यान्वेषी साधनारत हैं? क्या इस प्रवृत्ति का लक्ष्य बिना उद्देश्य निर्धारित किये पाया जा सकता है? किस दिशा में ये सत्यान्वेषी अपनी गतिविधि निर्धारित करना चाहते हैं? वह सत्य क्या है? उसकी मूल शक्ति कहाँ है?—समाज की सामूहिक चेतना शक्ति में है या व्यक्ति की अंतर्मुखी चेतना में है? इस सत्यान्वेषण का उपयोग क्या है? —व्यक्तिवादी "स्वान्तः सुखाय" इसका प्रेरणा-स्रोत है या 'बहुजन हिताय बहुजनसुखाय'? यों तो सत्यान्वेषी व योगी भी कहे जा सकते हैं जो हिमालय की बर्फीली चोटियों पर योग साधना कर रहे हैं किन्तु उसका सामाजिक उपयोग क्या है; मनुष्य के निर्माण में ऐसा अन्वेषण क्या सहयोग प्रदान कर सकता है? इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो आज के दिन स्पष्ट नहीं हो पा रहे हैं। एटम-शक्ति ही को यदि देखा जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि यह एक ऐसे सत्य का अन्वेषण है जिसने मनुष्य का जीवन और उसका दृष्टिकोण ही बदल दिया है किन्तु उसके साथ महत्व का प्रश्न यह है कि उसकी उपयोगिता नागासाकी, हीरोशिमा को ध्वंसावशेष में परिवर्तित करने में है या उस शक्ति के सहयोग

से एक सामाजिक क्रांति उपस्थित कर देने मे है जिससे मनुष्य का जीवन अधिक उपयोगी और सुगठित हो सके ?—आज का यह प्रश्न जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्याप्त है और साहित्यिक क्षेत्र में भी आज इसी को लेकर विभिन्न प्रवृत्तिया विभिन्न दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती हैं। हिन्दी के काव्य क्षेत्र में यह प्रवृत्तियां दो रूप मे प्रस्तुत हुई हैं—

(१) सामूहिक चेतना की सजीव प्रवृत्तियों के समर्थन में।

(२) व्यक्तिवादी अहम् से उद्वेलित अंतर्मुखी व्यक्तिगत सीमाओं मे।

इन दोनों प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में मनुष्य की प्रतिक्रियाये व्यापक कटुता की प्रतीक है। एक ओर असंतोष, अनास्था, अविश्वास और भ्रान्तियों के प्रति सशक्त विद्रोह है और दूसरी ओर इनके समर्थन में तिक्त घुटन है। जिस साहित्य मे प्रस्तुत घुटन असंतोष और अविश्वास की अभिव्यक्ति है आज वह रूप, शिल्प, वस्तु, विधान और प्रबध का अधिक समर्थक है। वह फूल की पखुरियों को सार्वजनिक दृष्टि से न देख कर अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखता है— उसके लिए उसका अपना दुख ही दुख है अपना सुख ही सुख है, वह इससे आगे देखने की क्षमता को स्वीकार नही कर पाता। दूसरी ओर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दुख को व्यापक दुख का एक अश मानता है और अपने दुख अथवा सुख के माध्यम मे व्याप्त सामाजिक सुख दुख को देखने की चेष्टा करता है उसका खुला विद्रोह भी उसके प्रति है वह उसे स्वीकार कर के उसके आवरण मे समा नही जाना चाहता है उससे मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ता है।

किन्तु—

इन प्रवृत्तियो का विकास कहां से हुआ और क्यों हुआ इस पर विचार करने से स्पष्ट रूप से पता चलता ह कि

(१) यह दोनो प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य साहित्य की उस परम्परा की देन है जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में समस्त यूरोप में विकसित हुई और प्रथम विश्व युद्ध मे सामाजिक एवम् राष्ट्रीय मान्यताओं के विश्रृंखल हो जाने से नवीन दिशाओं की ओर बढ़ी और दूसरे महायुद्ध के आसपास अपने पूर्ण रूप मे प्रस्तुत हुई। इन कवियो में से वाल्ट ह्विटमैन; एजरा पाऊण्ड; टी० एस० ईलियट, डब्लू० एच० ऑडिन, डी० एच० लारेन्स और लिन्डसे इत्यादि उल्लेखनीय हैं। औद्योगिक क्रान्ति के बाद से सामाजिक व्यवस्था का सामन्तवादी रूप नष्ट हो गया और तत्कालीन संघर्ष की अभिव्यक्ति इस साहित्य मे हुई। कवि ने अपने जीवन और उसके निर्धारित सत्यो-पर दृष्टि डाली और प्रेरणा-स्वरूप में कुछ नये तथ्यों का अन्वेषण करने लगा फलस्वरूप वह समाज, मनुष्य और व्यापक जीवन को एक नये माध्यम से देखने लगा।

(२) दो भयंकर युद्धों के बाद काल्पनिक आदर्शों के प्रति अनास्था हुई और एक नये तत्त्व की खोज में यह लगे रहे। 'रोमैन्टिक' कवियों का सूक्ष्मवाद और रहस्यवाद जीवन की व्यापकतिक्तता के समक्ष टिक नही सके। युद्ध के भयकर परिणाम ने इनको अति कल्पनावाद

से मुक्त कर दिया और कवियों में युद्ध का आतंक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगा। नोबेल पुरस्कार विजेता टी० एस० ईलियट लिखता है—

(अ) **मैं अपने जीवन से थक गया हूँ और उनके जीवन से भी थक गया हूँ जो मेरे पीछे आने वाले हैं मैं अपनी मौत से मर रहा हूँ और अपनी मौत में उनकी भी मौत से मर रहा जो मेरे पीछे आने वाले हैं।**

प्रस्तुत पंक्तियों में जिस भयंकर आतंकवाद और निराशावाद का वर्णन मिलता है उससे यह स्पष्ट पता चलता है कि कवि की जीवन के प्रति निष्ठा ही नहीं समाप्त हो गई वरन् वह हत बुद्ध और हताश हो कर भविष्य की भी आशा खो बैठा है—एक दूसरे स्थान पर यही कवि लिखता है—

(ब) ....**मनुष्य ने ईश्वर का सहारा छोड़ दिया**
इसलिए नहीं कि वह दूसरा ईश्वर ढूंढने वाला है
बल्कि इसलिए—
कि ईश्वर ही न रहे .....

लारेन्स विनियन जिसने दोनों युद्धों को देखा है लिखता है—

नंगी आत्माओं को प्रताड़ित करने के दिन अब आ गये हैं
उन दिनों को जलाने और समाप्त करने के दिन आ गये हैं—
जिन्हों ने आलस्य भरा संतोष दिया था
उन बेबुनियाद आशाओं और वंचित निष्फल इच्छाओं को
उसी दुनिया के साथ चले जाने दो
मुड़ के पीछे की ओर मत देखो
क्योंकि आज की हमारी दुनिया वह नहीं है जो कि थी।

और इस आतंकवाद ने एक विचित्र प्रकार का अहम् कवि के भीतर जागृत कर दिया जो विभिन्न परिस्थितियों का प्रतीक था। इसी अहम् और पलायनवादी विचारधारा के अंतर्गत एक दूसरा कवि कहता है—

ओ मेरी जिन्दगी
मुझे थोड़ी देर के लिए गत जीवन का वह आतंक भूल जाने दे
जिसमें—
मनुष्य, उसकी वेदना, उसके रक्तरंजित स्वेद
आतंक और आंसू निहित हैं
और मुझे उसे समय तक भूला रहने दे

तब तक—
ये सब नष्ट न हो जायें
और मैं फिर अपने जैसे आदमियों के बीच न रह सकूं।

कहने का सारांश यह कि इन्ही विचारधाराओं से प्रभावित और वर्तमान जीवन की तिक्तता के अन्तर्गत आज के हिन्दी काव्य की नवीन परम्परा चल रही है। प्रयोगवाद की परिभाषा देते हुए अज्ञेय जी कहते हैं—

"निरे 'तथ्य' और 'सत्य' मे—या कह लीजिये 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति सत्य' में—यह भेद है कि 'सत्य' वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है; बिना इस सम्बन्ध के वह एक वाह्य वास्तविकता है जो उद्धत काव्य में स्थान नही पा सकती। लेकिन जैसे जैसे वह वाह्य वास्तविकता बदलती है—वैसे वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियां भी बदलती है—और अगर नहीं बदलती तो उस वाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।"

वस्तुत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की जो दलील अज्ञेय जी ने प्रस्तुत की है उसके प्रति आपत्ति नही है आपत्ति है उस दृष्टिकोण के प्रति जब व्यक्ति का अहम् वाह्य सत्य को अपने (मूड) तरंग के अनुसार ही देखता है और उस सत्य अन्वेषण की प्रवृत्ति का सहारा छोड देता है जो समस्त प्रयोगों की आधार भूमि है। वैसे तो छायावादी कवि भी वाह्य तथ्य को अपनी रागात्मक अनुभूतियो से सम्बध स्थापित करके कल्पनाओं की उड़ान उड़ते थे फिर उनके सत्यान्वेषण में और प्रयोगवादी कवियों में क्या अन्तर है—? जिन निराशावादी और व्यक्तिवादी भावनाओं ने रहस्यवादी और छायावादी कवियों को समाप्त कर दिया है आधुनिक प्रयोगवादी कवियों मे वही संकीर्णता दूसरे रूप में पनप रही है और यदि इस संकीर्णता और एकांतवादी प्रवृत्ति से आधुनिक प्रयोगवादी कविता मुक्त नहीं हो सकी तो स्पष्ट है कि इसका भी भविष्य कुछ अधिक महत्व का न हो सकेगा! देखिए राजेन्द्र यादव की ये पक्तियां—

मैं अकेला
. . . . . .
. . . . . .
औ अँधेरा भूलता परछाइयां चुप नाचती हैं
थरमराती खाट
गीली रात के नीचे पड़ा हूँ
मौन चुप अन्तर्मुखी मैं।
मैं अकेला सो रहा हूँ—
एक मीठी बात मन में कसमसा कर डूब जाती
एक मादक स्वप्न आंखों में उतर कर ढुलक जाता

एक सुरभित सांस अधरों से अकेली छूट पड़ती
कास में हिम खंड सा गल कर भिगो देता किसी को

. . . .

. . . .

एक गहरी प्यास
मन्थर धार
तपती ज्ञान की सारी शिराएं सुप्त होती आ रही हैं"

एक प्रश्न जो बड़ा स्वाभाविक है उसका स्पष्टीकरण इस काव्य में नहीं हो पाया है और वह है यह अकेलापन, यह घुटन, यह पीड़ा, यह वेदना किसलिये है इस रागात्मक सम्बन्ध की मनःस्थिति क्या है—शायद कवि अपनी सीमायें तोड़ कर व्यापक 'सत्य' से अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़े तो उसे इस घुटन का कारण और हल दोनों ही मिल जाय। ठीक इसी अनुभूति को अभिव्यक्ति अपनी सामूहिक चेतना के माध्यम से शमशेर बहादुर सिंह ने भी की है किन्तु उसकी मार्मिकता देखिये—

दैन्य दानव, काल
भीषण; क्रूर
स्थिति; कंगाल
बुद्धि : घर मजदूर।
सत्य का
क्या रंग
पूछो
एक संग
एक—जनता का
दुःख : एक।
हवा में उड़ती पताकायें
अनेक!
दैन्य दानव! क्रूर स्थिति।
कंगाल बुद्धि! मजूर घर भर।
एक जनता का अमर वर
एकता का स्वर
—अन्यथा स्वातंत्र्य इति।

(दूसरा सप्तक)

प्रस्तुत कविता में भी परिस्थितियों का गंभीर अध्ययन है, घुटन है, पीड़ा और संवेदना है किन्तु कवि की व्यक्तिवादिता सामूहिक चेतना 'सत्य के व्यापक' तत्वों से अपना सम्बन्ध

जोड़ कर एक आशाप्रद भावना की प्रेरणा देता है उसकी अंतर्मुखी चेतना स्वयम् में ही लीन नहीं है उसने अपनी स्वतंत्र भावना को 'एकता के स्वर से' सम्बन्धित आंतरिक घुटन को व्यक्त किया है इसी सत्य के प्रति कवि कहता है—

सत्य का कल
समय का कल है
अभय जनता को
सत्य ही सुख है।

एक ओर जहां इन संघर्षों के बीच भी कवि एक रास्ता ढूंढने की चेष्टा करता है। उसकी आत्मा उस सत्य के प्रति उत्सुक है जो जीवन में नई आस्था दे सके अपवादों के बीच 'सत्य का रंग' दृष्टिगत करा सके और "दैन्य दानव क्रूर स्थिति' को एक जनता के स्वर में पिरो कर नई गति और नई प्रेरणा दे सके—वही एक व्यक्तिवादी अहम् से प्रभावित हुए निराश कवि की जाड़े के शाम के प्रति इस रूप में प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है—

मैं बैठा हूँ
यह शाम मुझे अपनी मुर्दार उगलियों से छू लेती है
माथा छूती
लगता जैसे प्रतिभा ने भी दम तोड़ दिया,
मस्तक इतना खाली खाली
लगता जैसे
वो कोई सड़ा हुआ नरियल,
छूती है होंठ
कि लगता ज्यों
वाणी इतनी खोखली हुई
ज्यों बच्चों की गिलबिल गिलबिल,
सब अर्थ और उत्साह छिन गया जीवन का,
जैसे जीने के पीछे कोई लक्ष्य नहीं,
दिल की धड़कन इतनी बेमानी
जितनी
वह टिक टिक करती हुई घड़ी
जिसकी दोनों की दोनों सुइयां टूटी हों।

(धर्म वीर भारती)

उपर्युक्त पंक्तियों में जहां भावों एवम् संघर्षों को सफल अभिव्यक्ति मिली है वहीं कवि के अति अहमवाद ने उसके 'न्यूराटिक' भावों की सकीर्ण वृत्ति का भी आभास दिया है 'जैसे

जीने के पीछे कोई लक्ष्य नहीं' का भाव ही यह व्यक्त करता है कि कवि की अन्तर्मुखी चेतना अपनी सीमा के बाहर कुछ नहीं देख पा रही है, किन्तु जब इसी व्यक्तिवादी कलाकार की लेखनी से—

सृजन की थकन भूल जा देवता
अभी तो पड़ी है धरा अनबनी
....
अधूरी धरा पर नहीं है कहीं
अभी स्वर्ग की नींव का भी पता

(भारती)

ये पंक्तियां निकलती हैं तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि की अन्तरात्मा में एक संघर्ष है—एक द्वन्द है जिसके कारण वह दो विभिन्न वृत्तियों को छू कर निकल जाता है स्थिरता जैसे कहीं भी नहीं पा सका है।

तो जहां यह दोनों प्रवृत्तियां साथ साथ चलती सी प्रतीत होती हैं वहीं इस बात का भी आभास मिलता है कि चाहते हुए भी कवि व्यापक मानवता के प्रति उदासीन नहीं रह पाता अन्यथा वह अपनी व्यक्तिवादी सुख दुख की भावना में यह कल्पना तो कर ही नहीं सकता था कि—

जीवन है कुछ इतना विराट इतना व्यापक
उसमें है सब के लिए जगह सब का महत्व
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख रख कर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सब का है
सब ने पाया है प्यार, सभी ने खोया है
सब का जीवन है भार
और सब जीते हैं
बेचैन न हो
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है
तब एक ज्योति मिल जाती है
जिसके मंजुल प्रकाश में सब के अर्थ नये खुलने लगते।
....
... .
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख रख कर सोनेवाले
हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो

किन्तु

इन प्रवृत्तियों की पृष्ठिभूमि में कुछ व्यापक सत्य हैं, जीवन के कटु अनुभव हैं और युग के संघर्षों की प्रतिक्रियायें हैं। वह प्रतिक्रियायें इस रूप में क्यों प्रदर्शित हैं? आज का

मनुष्य स्वर, गति, छन्द की परम्परागत मान्यताओं को क्यों नही स्वीकार कर पाता और यदि इसके कारण की विवेचना करें तो पता चलेगा—

(१) गत महायुद्ध के बाद जहां अनेक मनोवैज्ञानिक गुत्थियां कवियों और लेखकों में आई है वही नई-शैली, और नये शिल्प का व्यवधान भी मिला है और वे है—

(अ) प्रतीकात्मक शैली (Symholism)

(ब) व्यग्यात्मक शैली (Satirical)

(स) सम्पर्कात्मक शैली (Associrtson)

(द) प्रतिभावात्मक शैली (Impsessionest)

(स) चित्रण शैली (Imegery)

(२) नये भावो के अनुकूल नये शब्दो की भी खोज कवियों ने की है और बहुधा सस्काराबद्ध शब्दों की उत्पत्ति का वातावरण ही बदल दिया है।

(३) नीरस से नीरस विषयों को लेकर उस पर मनःस्थित के अनुकूल भावनाओ का सम्बन्ध स्थापित कर के उन विषयों को नवीन भावो और नवीन अनुभूतियों को व्यक्त करने का माध्यम बना लिया है और उसका निर्वाह भी सफलता से किया है।

(४) भाव प्रधान न हो कर आज की कविता मे बुद्धिवादी प्रवृत्तियाँ अधिक है—शिल्प और रूप का प्रधान स्थान है। मौलिकता की खोज में नये रूपक, नये उपकरण ओर नयी वस्तुओं का बाहुल्य है फलस्वरूप अधिकाश स्थान पर वह जनसाधारण के लिए अज्ञेय बन जाते है।

(५) तत्व विवेचन मे बारीक से बारीक वस्तु को कल्पना प्रस्तुत करने मे कवि अपनी सार्थकता सिद्ध करना चाहता है और उनके निर्वाह मे वह अपनी शक्ति और प्रतिभा को आवश्यकता से अधिक लगा देता है।

(६) सत्य को देखने के लिए कलाकार का अहम् भाव सशक्ति होना चाहिए। किन्तु जहा तक आधुनिक काव्य के नवीन कलाकारो का सम्बन्ध है वहां यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तथा कथित कवियो की अपेक्षा इनका अहम् अधिक सचेत और सप्राण है उसकी दिशा चाहे जो हो—यह दूसरी बात है—इसलिए आज की कविता रस-अलंकार के सिद्धान्त की अपेक्षा कवि की व्यक्तित्व का अधिक प्रतिनिधित्व करती है।

(७) आज का कवि केवल रस सिद्धि ही अपना ध्येय नही मानता उसका उद्देश्य और झुकाव इस बात पर अधिक है कि वह किस दृष्टिकोण से किसी वस्तु को देखता है इसलिए उसमे केवल काव्य गुण ही का प्राचुर्य नही है वरन् उसमे उसके विशेष दृष्टिकोण का अधिक अंश है।

प्रतीकात्मक :—मनुष्य अपनी भाव व्यंजना को अधिक सफलता से व्यक्त करने के लिए और उसका मार्मिक अनुसंधान करने के लिए बहुधा 'प्रतीकों' का सहारा लेता है। वैसे यह कोई नई वस्तु नहीं किन्तु इसका प्रयोग हमें आधुनिक कवियों में अधिक सफल और

प्रभावपूर्ण दिखायी पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रतीकों को कवि ने व्यापक प्रतीकों से न लेकर व्यक्तिगत प्रतीक बना दिया है किन्तु कहीं-कहीं तो उनका यह प्रतीक स्वयम् में बड़ा शुद्ध और पवित्र रूप में प्रस्तुत हुआ है। प्रमाण के लिए हम प्रस्तुत प्रतीक को ही देखें तो लगता है जैसे कविता निरर्थक सी लगती है किन्तु इस 'माई' कविता की पृष्ठभूमि को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो कवि की सफलता का भास मिल सकता है। निम्नलिखित कविता शमशेर जी ने अपने 'कम्यून' की एक वृद्ध महिला कार्यकर्ता की मृत्यु पर लिखी है। अब 'तरु' के प्रतीक को ध्यान से पढने पर 'माई' का सफल चरित्र-चित्रण केवल इन्हीं पंक्तियों में कवि ने किया है और शायद इतने थोड़े में इतना अधिक भाव किसी भी और रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता—

"तरु गिरा
जो—
झुक गया था, गहन
छायायें लिये।
अब हो उठा है मौन
दुःख उठा है करुण सागर का हृदय,
सांझ कोमल और भी अपनाव का आंचल
डालती है दिवस के मुख पर।
. . .   . . .
. . .   . . .
पूछती है माई
एक बात :
(स्वप्न में वह आयी
इसीलिए
जागरण की रात)
कौन बात—?

(दूसरा सप्तक— शमशेर)

एक दूसरा प्रतीक 'भागवत' और 'बाँसुरी' का देखिये। भागवत के पृष्ठों से पावन ललाट पर अधरों की सरल मुखरित भावना (जिसमें न जाने कितनी इच्छाओं और अभिलाषाओं के स्वप्न बँधे हैं) कितनी नयी और कितनी पवित्र है—फिर कृष्ण की रासलीला का सांस्कृतिक संकेत प्रेम को कितना सांस्कृतिक रूप देने में सफल हुआ है। कवि के असंख्य भाव केवल इन्हीं दो प्रतीकों में इतने सजीव हो कर व्यक्त हो गये हैं कि इनको व्यक्त करने के लिए सैकड़ों पंक्तियां उतनी पर्याप्त न होती जितनी कि निम्न लिखित पंक्तियां सिद्ध हुई हैं—और

फिर जिज्ञासा भरे कंपित पलकों को केवल आरती के दीपक से सम्बोधन करना कुछ कम मार्मिक नहीं—

रख दिये तुमने नजर में बादलों को साध कर।
आज माथे पर, सरल संगीत से निर्मित अधर॥
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांह में।
बांसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर॥

(दूसरा सप्तक—भारती)

भारती की एक और कविता देखिए जिसमें उसके भावो के संघर्ष और कल्पनाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अपने में संसार की पीड़ा, दुःख, सुख और सवेदना को संजो लेने में अधिक सशक्त सिद्ध हुई है। फूल को कवि ने एक नया अर्थ दिया है जिसमें उसने विश्व की विकासमुखी चेतना का प्रतीक उपस्थित किया है और अपनी वेदना को प्रकाश देने वाली उस मोमबत्ती का प्रतीक बनाया है जो स्वयम् घुल कर वातावरण के अधकार मे प्रकाश प्रसारित करती है और टूटे हुए सपने वह अपूर्ण अभिलाषाये है जो स्वप्न मे ही खंडित हो कर रह गई और उसके आगे बढ़ने की क्षमता उनमे शायद नही रही। कौन जाने इन्ही टूटे हुए सपनो के आधार पर ही कवि ने अपने दर्द को एक नयी हद तक ले जाने की चेष्टा की हो—

ये फूल मोम बत्तियाँ और टूटे सपने
ये पागल क्षण
यह काम काज, दफ्तर फाइल, उचटा सा जी, भत्ता वेतन
इनमें से रत्ती भर न किसी से कोई कम;
अंधी गलियों में पथ भ्रष्टों के गलत कदम
या चन्दा की छाया में भर भर आनेवाली आंखें नम
बच्चों की सी दूधियाँ हँसी, या मन की लहरों पर उतराते हुए कफन
ये सब सच हैं

. . . .

. . . .

ये सभी तार बन जाते हैं
कोई अनजान उँगलियाँ इन पर तैर-तैर
संगीत बजा देती सब के अपने अपने
गुंथ जाते हैं ये सभी एक मीठी लय में
यह काम-काज, संघर्ष विरस कड़वी बातें
ये फूल मोम बत्तियाँ टूटे सपने।

प्रतीक से— (ये फूल मोमबत्तियाँ और टूटे सपने)

—धर्मवीर भारती

जहाँ इन व्यक्तिवादियों के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित प्रतीक समझना दुरूह प्रतीत होता है वही सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के प्रतीकों में व्यापक जीवन के तत्व अन्वेषण के साथ साथ एक दबी हुई मानवी भावों के प्रति श्रद्धा भी उनकी अपनी चीज बन गई है। इसमें सन्देह नही कि 'नीला अजगर' शीर्षक कविता में कवि ने अपने चौके के उठने हुए धुयें में विश्व के व्यापक घुटन को भी देखा है—

साँझ हो गयी
जहरीले नीले अजगर सा
धुआँ निकलने लगा
रसोई घर की मटमैली चिमनी से
जिसे देखकर
चिर परिचित भूखी गौरैया
चार अन्न के दानों के हित
लगी फुदक कर आने जाने
शोर मचाने
... .
....
चौके बरतन की खटपट
टुन भुन, सुन, सुन
बुझते नयनों की खामोशी कांप रही है
कुरव रहा है दुखी सांझ सा उर का छाला
इधर भूख से विकल पंख फर फर करते हैं
उधर स्वाद हित छून छून करता गरम मसाला।
पेट-पेट का इसे कहें
या भूख भूख का यह अन्तर है,
एक ओर भूखी गौरैया
एक ओर नीला अजगर है।

जहाँ इतना व्यापक सत्य कवि देखता है वहीं वह अपने प्रेम और रोमान्स में भी जीवन की क्षणभंगुरता और प्रेम दोनों की नश्वरता देखता है और उसकी आत्मा उस सूक्ष्म तत्व को ही सत्य मानती है जो थोड़ी ही देर के लिए सही वातावरण के प्रकाश का आधार पा कर संसार रूपी दीवार पर अपनी छाया (प्रभाव) छोड़ जाती है इसलिए ही वह 'हम' 'तुम' को ही सत्य मानता है क्योंकि केवल दो का संयोग ही जीवन को अधिक शक्तिमान् और विकासमय बना सकता है—प्रस्तुत कविता में कवि ने प्रेमी और प्रेमिका को दो अगर की बत्तियों का प्रतीक माना है। जहां तक वस्तु और परिस्थिति के चित्रण का प्रश्न है कवि को

इसमें अधिक सफलता मिली है। यहां पर यह बात उल्लेखनीय है कि व्यक्तिवादी 'अहम्' से प्रभावित होते हुए भी कवि ने जीवन के व्यापक सत्य की अवहेलना नहीं की है—

इस सफेद दीवार पर
हमारी तुम्हारी
परछाइयों ने मिलकर
आड़ी, टेढ़ी, काली रेखाओं की
जो एक उलझी हुई आकृति बना रखी है
वह अभी मिट जायगी
सच मानो अभी मिट जायगी
कमरे के कोण के उस दीप के बुझते ही
सत्य, न तो वह प्रकाश है
और न यह काली आकृतियाँ ही
सत्य न तो प्रेम है और न वासना ही
सत्य हैं हम तुम
दो अगर की बत्तियां।

(दो अगर की बत्तियाँ—प्रतीक
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

प्रतीकवादी कविताओं का महत्व केवल भावों के संघर्ष को एक माध्यम का आधार लेकर व्यक्त करने में है। इसमें शिल्प और रूप के मार्मिक तत्वों पर अधिक ध्यान दिया गया है और इसकी सब से बड़ी असफलता यह रही है कि सर्वसाधारण के लिए बिना इन प्रतीकों को समझे कविता का भाव ग्रहण करना कठिन मालूम पड़ेगा किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जहां तक काव्य का सम्बन्ध है इन प्रतीकवादी कविताओं में उसकी पुष्टि अधिक सफलता से की गई है। प्रतीक मानव विकास के साथ उसके जीवन में है—मृत्तिका के पिंड पूजन से ले कर भाषा लिपि और ज्ञान तक केवल प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप हैं जैसे शून्य का महत्व उसके दहाई का अंक निर्धारित करता है ठीक वैसे ही प्रतीक का महत्व काव्य विषय पर आधारित है।

प्रतिभावनावाद—संवेदनाओं को अर्थ देना मनुष्य का स्वभाव है और जब यह संवेदना शक्ति काव्य में केवल अर्थ रूप में व्यक्त होती है तो यही प्रतिभावित के नाम से व्यक्त होती है जैसे नरेश मेहता की निम्नलिखित कविता—

सोने की वह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार अब बैठ गई दिन अण्डे पर
नवो वधू की नथ का मोती चील ले गई

गगन मीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें
नभ का नीलापन चुप है दिशि के कंधों पर सिर धर।

उपर्युक्त पंक्तियों में संध्या का चित्रण बिल्कुल नयी शैली से किया गया है। सन्ध्या का नाम तक कहीं नहीं लिया गया है लेकिन ऐसा लगता है कि कवि ने प्रकृति की सजीवता के सूक्ष्म तत्वों को बड़ी सुगमता से अपने भाव चित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है, और कवि का चित्रण और भी सफल हो जाता है जब वह कहता है—

साँझ दिवस की पत्नी, अपने नील महल में बैठी कात रही है बादल
दिशि की चारों कन्यायें हैं मांग रहीं तारों की गुड़ियाँ।
अभी बादलों के पर्वत पर खेल रही थीं दिन की लड़की स्वर्ण किरण वह
नहीं पास में पिता देख चौंकी थी, मेले में खोये बालक सी।

. . . .

पूरब में हड्डी के रंगवाला बादल लेटा है पेड़ों के ऊपर गगन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थक कर भरा पड़ा ज्यों—
(मसम देवता—नरेश मेहता)

एक दूसरी कविता में अज्ञेय का प्रकृति चित्रण देखिये। हवाई यात्रा में हवाई जहाज पर बैठ कर कवि नीचे धरती की ओर देखता है और उसका चित्रण कितने सफल ढंग से करता है—

कंधे पर यह जमी हुई है चौसर :
इतनी ऊँचे से गोटें तो नहीं दीखतीं
पर
घर
पहचाने जाते हैं।
इधर रहा यह गोल रहँट का :
काले चिड़े चींटें खींच रहे हैं एक सुरभवू
सुरभेदानी नहीं दीखती : मस्से सा कुएँ का मुंह है।
(अज्ञेय—हवाई यात्रा)
'प्रतीक'

वस्तुतः यह 'प्रतिभावनावाद' (Impressionism) की शैली में सांकेतिक प्रवृत्ति अधिक है। मनोभावों की प्रतिक्रिया किस रूप में होती है यह तो बहुधा व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है किन्तु यह शैली अधिक उपयुक्त हो सकती है, इसका विधान अधिक ज्ञेय और स्पष्टरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आज इस शैली में स्वयम् कुछ दोष नहीं है, दोष तो है। विषय वस्तु में जैसे—

आओ नहायें
छत से फुहार झरे
कभी कभी चुपके से देखें, धुल रही धूल
थकी पिंडलियों की
थके थके एक दूसरे को उघरें देखें
और न शरमायें
आओ, कुछ भीगने दो
कुछ और भीगने दो
भीगे केशों में सुगन्धि आ जाने दो
कानों के पीछे का मैल निकल जाने दो
आह चाहते हैं क्या कर—जांय पाप ?
हिम्मत्
खड़े रहें, भौहों में ठंड पर
खड़े रहें, खड़े रहें, और निखर आयें
आओ।

व्यंग्यात्मक शैली—आज के जीवन की विषमता से चूर चूर मनुष्य की व्यंजना में तिक्तता का अजीब अंश आ गया है। व्यंग्य का वास्तविक रूप तो गहरी चोट पर आधारित होता है। श्री भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में इसकी सफल अभिव्यक्ति मिलती है। वर्त्तमान युग में कवि, साहित्यकार, कलाकार अथवा बुद्धिजीवियों के प्रति समाजमें जो उपेक्षा का भाव है और पूंजीवादी व्यवस्था मे फर्माईशी चीजों की माग जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ में की जाती है उसकी प्रतिक्रिया कवि में व्यंग्यात्मक ढग से हुई है—

जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के
गीत बेचता हूँ
मैं सभी किसम के गीत
बेचता हूँ।

......
......

जी पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको
पर पीछे पीछे अकल जगी मुझको
जी, लोगों ने तो बेच दिया ईमान।
जी, आप न हों ज्यादा सुनकर हैरान
मैं सोच समझकर आखिर

अपने गीत बेचता हूँ
जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।

(गीत फरोश—दूसरा सप्तक से)

प्रस्तुत उद्धरणों में आज का कवि अथवा बुद्धिवादी किस प्रकार से जीवन के सत्यों को देखने की चेष्टा करता है यही बात महत्व की है। बहुत से लोग आकार को प्रधान मानते हैं किन्तु आकार की आत्मा पर ध्यान नहीं देते! आवश्यकता है इस में आकार के साथ उस आत्म-व्यंजना की जिसमें व्यक्तित्व घुल मिल कर एक विशाल मानव आत्मा में समा गया है तभी आत्म शक्ति का निश्चय उस सत्य का साक्षात् कर सकेगा जो शिव और सुन्दर भी होगा। इसलिए बहुत से नये कवि जो केवल आकार पर ध्यान देते हैं और कला को केवल कला के लिए मानते हैं वह किसी स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर सकेंगे! जैसे कोरे नारा वादी कवि पूंजीवाद को साहित्यिक गालियाँ दे कर समाज का कल्याण कर सकने में सदैव असफल रहे हैं, वैसे ही काव्य को केवल दार्शनिक महत्व देने वाले भी असफल रहेंगे। वस्तुतः इन सब को अपने में समेट कर चलने वाली कविता ही जीवित रहेगी और यही हमारा ध्येय भी होना चाहिए।

श्री शमशेर बहादुर सिंह

हमारे सांस्कृतिक समन्वय का एक प्रतीक—'रहीम'

देश की संस्कृति का आज बहुत नाम लिया जाता है। उसका जीवन्त रूप क्या है? उसका रूप यदि विशद और महान है, यदि उसने सैकड़ों शताब्दियों की गहराई और गंभीरता है और जीवन है जो कि प्रगतिशील है तो हम उसे इतिहास का सहारा लिए बिना कैसे समझ सकते हैं? संस्कृति हारिल की लकड़ी नहीं कि पकड़ कर दिखा दिया कि यह है। वह तो कल्पतरु है जिसकी शाखाओं की शाखाएं—हम और आप—आज भी जीवित हैं। उसकी छांह में बैठ कर कहीं एक जगह से हम उस पूरे का रूप नहीं देख सकते—न पा सकते हैं, न समझ सकते हैं।

चार सौ साल हुए इसी कल्पतरु की एक शाखा पर एक पंछी आकर बैठ गया था। उसकी मीठी बोली हम आज भी सुन रहे हैं। उसका नाम रहीम था।

'भक्तमाल प्रसंग' में एक कथा है जो इस प्रकार है। "एक रहीम नाम पठान विलायति में रहे ताने गुनी नाथ जी (बल्लभ कुल सम्प्रदाय के आराध्य देव, जिनका मन्दिर पहिले गोवर्धन में था) बहुत खबसूरति है। चाह भई। रात-दिना चल्योई आयो। जब दरवाजे पै आयो, तब रोक्यो—भीतर मत जाय। तब रहीम बगदि के बोल्यो "यह साहब अए यह बेसुरो! फिर चाह क्यों दई?"

> **हरि रहीम ऐसी करी-ज्यों कमान सर-पूर।**
> **खेंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर॥**

तब ऐसे कहिके पर्वत के नीचे जाय बैठे। तब गुसाई जी ने सुनि के थार को प्रसाद लै के रहीम पै गये। तब वाने कही—"बाबा तुम यहाँ क्यों आवते हो। तुम सो हमारा क्या काम है। मैं तो जिसन बुलाया हूँ, जिसे हर कहता हूँ। तब नाथ जी स्वयं थार लाए। तब रहीम ने पीठ फेरि लई।

> **दोहा :—खिचे चढ़त ढीले ढरत, अहो कौन यह प्रीति।**
> **आजि कालि मोहन गड़ी, बंस दिए की रीति॥**

तब श्रीनाथ जी घरि के चले गए। तब यह पीछे पछितायो। मैंने बुरी करी। फिर अब कहा ह्वै है।

तब विचार कियो—अब दिन कटई करे बाकी बातन सों।

मोहन छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आय फिर जाय॥

यह सत्संग नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना का एक ढंग था। ये महापुरुष भारत को अकबर महान् की देन हैं। अकबर ने स्वयं इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध किया था। ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, और अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और ब्रज तथा अवधी के विद्वान् एवं कवि थे। इन्होंने बड़ी-बड़ी चढ़ाइयां कीं और उनको बड़े-बड़े ओहदे मिले। गुजरात की सूबेदारी, सरकारी वकील का सबसे बड़ा ओहदा, मंत्री पद।

पर सब से बढ कर वह थे एक इंसान। ऐसे इंसान जिसके लिए गालिब ने कहा है कि—"आदमी को भी मुयस्सर नहीं इंसां होना!" उस युग के नर-रत्न तुलसीदास के ये परम मित्र थे। यह इनकी बड़ी इंसानियत का सबसे बड़ा सबूत है। यद्यपि सबसे बड़ा प्रमाण स्वयं इनका काव्य है।

इनकी दानशीलता और दरियादिली तो एक मिसाल बन गई है। गंग के पूछने पर कि—

सीखे कहां नवाब जू, ऐसी देनी दैन?
ज्यों ज्यों कर ऊँचो करो, त्यों त्यों नीचे नैन।

इन्होंने जवाब दिया।

देन हार कोउ औरई, भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हम पर धरें, यातें नीचे नैन॥

गंग को इन्होंने एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपया दिया था जो प्रसिद्ध है।

संस्कृत साहित्य में ये इतने पगे हुए थे कि उनके कई दोहों में संस्कृत श्लोकों का मार्मिक अनुवाद मिलता है—बहुत सरस और भावपूर्ण। जैसे, इनमें—

धनि रहीम जल कूपको, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय॥

रहीम इतने लोक-प्रिय हुए कि उनके जो दोहे कबीर साहब के सिद्धान्त के अनुकूल पड़े वह लोगों ने उनकी साखियों में मिला दिये। रहीम का यह मशहूर दोहा कबीर के यहां भी मिलता है:—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।
उनतें पहिले वे मुए जिन मुख निकसति नाहिं॥

हमारी परंपरा, हमारी विचारधारा और सम्कारों में जो व्यक्ति इतना डूबा हुआ हो, और साथ ही अपनी ओर से उस संस्कृति में योग दे रहा हो वह ४०० साल बाद आज भी हृदय में बसा हुआ है और आगे भी हमारा कंठ-हार रहेगा।

रहीम का स्थान हिन्दी के रीति-साहित्य में विशेष रूप से बरवै 'नायिका-भेद' के कारण भी है। कहते हैं रहीम के बरवै पर मुग्ध होकर ही तुलसीदासजी ने अपनी बरवै रामायण रची। इस ग्रंथ का बाद के कवियों पर असर पड़ा। श्री माया शंकर याज्ञिक कहते है कि 'रस-सिंगार' (जिसमें मतिराम के लक्षण -दोहे और रहीम के बरवै उदाहरण हैं) संभव है कि मतिराम ने स्वयं यह संग्रह किया हो। पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों मे बरवै नायिका भेद में—भारतीय प्रेम-जीवन की सच्ची झलक है। यहाँ हम उन्ही के चुने हुए पांच बरवै प्रस्तुत करते हैं—

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप,
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप।
बाहर लैके दियवा बारन जाइ
सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ।
प्रिय आवत अँगनैया उठि कै लीन
बिहँसत चतुर तिरियवा बैठक दीन।
लैके सुघर खुरपिया पियके साथ
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ।
पीतम इक सुमरिनियाँ मोहिं देइ जाहु
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु।

रहीम के बरवै का एक और ग्रथ भी है जो नायिका भेद से अधिक प्रौढ़ है। इनमें सूरदास के पदो की सी हृदय को मथ देने वाली शक्ति कहीं-कहीं मिलती है। इसका आधार गोपियों की विरह, पावस वर्णन और ऊधो के साथ गोपियों का सवाद है। देखिए, कितना मार्मिक और उत्कृष्ट बरवै है :—

ज्यों चौरासी लखि में—मानुस देह
त्योंही दुर्लभ जग में सहज सनेह।

गोपियाँ ऊधो से कहती है —

आविहिं तें सब छुटगो जग ब्यौहार
ऊधौ अब न तिनौ सर रही उधार!
ब्रजवासिन के मोहन जीवन-प्रान
ऊधौ यह संदिसवा अबहू कहान।
अति अद्‌भुत छवि-सागर मोहन गात
देखति ही सखि बूड़त दृग जल जात।

विरह दशा के वर्णन में कुछ बरवै हैं:—

गए दूरि हरि सजनी बिहँसि कछूक
तबतें लगनि अगिन की उठत मबूक
कैसे आवत कोऊ दूरि बसाय?
पल अन्तर हू सजनी रह्यो जाय!
सबै कहत हरि बिछुरे हर धरि धीर
बौरी बांझ न जानै ब्यावर-पीर!
लोग लुगाई हिल मिल खेलत फाग
परयो उड़ावन मोको सब दिन काग।

एक फारसी का बरवै भी सुनिए—

मो गुजरद ई दिलरा बे दिलदार।
इक इक साऊत हम यूं साल हजार।

—दिल पर ऐसी गुजरी रहीम कि एक एक क्षण शायद इसमें है—

पथिक आय पनघटवा करत पियाव।
पैयाँ परौं ननदिया, फेरि कहाव॥

रहीम का 'नगर-शोभा' भी एक दिलचस्प चीज है। देव के जाति-विलास का यह अग्रज है।

इसमें ६०-६१ जातियों की नायिकाओं का वर्णन है जैसे ब्राह्मणी, खतरानी, बनियाइन, राजपूतनी, जोगिन, भगतिन, धोबिन, चमारिन आदि। यह ग्रंथ रहीम के मैलानी स्वभाव का परिचायक है। यह संक्षिप्त रेखा-चित्रों का एक जीता-जागता-सा अलबम है। प्रत्येक चित्र अपना जातिगत व्यक्तित्व लिए हुए है। इन चित्रों का आलंबन तो शृंगारिक है क्योंकि उस युग की परिपाटी थी। पर देव के चित्रों की सी कही सच्ची झांकियां प्रस्तुत करते हैं। कुछ चित्र तो काफी दिलचस्प हैं जैसे कूजड़िन को ही देखिए—

भाटा बरन सुकौंजरी बेचै सोवा साग।
निलज भई खेलत सदा गारी दै दै फाग॥
हरी भरी डलिया निरखि, जो कोई नियराति।
झूठे हू गारी सुनति, सांचे हू ललचाति।

भटियारिन के चित्रण में रहीम अपनी खास नीति परक शैली से नहीं चूके—

भटियारी और लच्छमी दोऊ एकै घात।
आवत बहु आदर करें, जात न पूछें बात॥

जोगिन पर भी अच्छी फबती है—

जोगिन जोगन जानई, परें प्रेम रस माँहि।
डोलत मुख ऊपर किये, प्रेम जटा की छाँहि॥

यों तो रहीम का एक और भी कवि रूप है जो हमें बरबस पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय की याद दिला देता है। मदनाष्टक में—

कलित ललित माला या जवाहिर जड़ा था,
चपन चखन वाला चांदनी में खड़ा था,
कटि तट बिच मेला पति सेला नवेला,
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला।

पर ये सब तो मानो किताब के हाशिए हैं। मुख्य रस रहीम कवि का 'शान्त रस' है। वह शान्त रस जिसका आधार जीवन का गहरा और सुदीर्घ अनुभव और उसमें प्राप्त ज्ञान। लोक-विख्यात रहीम वही है और वह हमारे देश की ससंस्कृत चेतना से कभी विलग नहीं हो सकता। वह रहीम जो कहता है:—

रहिमन या तन सूप है, लीजै जगत पछोर।
हलुकन को उड़ि जान दै, गरुए राखि बटोर॥
रहिमन रिस को छांड़ि कै, करौ गरीबी भेस।
मीठो बोलो, नै चलौ, सबै तुम्हारो देस॥
रहिमन पानी राखिए, बिनु पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे मोती, मानुस, चून॥
रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो छिटकाय।
टूटे से फिरि ना मिलै, मिलै गांठ परि जाय॥
जिहि रहीम तन मन लियो, कियो हिये बिच भौन।
तासों दुख सुख कहन को, रही बात अब कौन॥
रहिमन गली है सांकरी, दूजो ना ठहराहिं।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपुन नाहिं॥
पसरि पत्र झंपहिं पितहिं, सकुचि देत ससि सीत।
कहु रहीम कुल कमल के, को बैरी को मीत॥
अंजन दियो तो किरकिरी, सुरमा दियो न जाय।
जिन आँखिन सों हरि लख्यो, रहिमन बलि बलि जाय॥
अन्तर दावा लगि रहै, धुवाँ न प्रगटै सोय।
कै जिय जानै आपनो, जा सिर बीती होय॥
अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे सो तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम॥

रहिमन तीन प्रकार सों, हित अनहित पहिचान।
परबस परे, परोस बस, परे मामला जान॥
वे रहीम नर धन्य हैं, पर उपकारी अंग।
बाँटन वारे को लगै, ज्यों मिहँदी को रंग॥
यह न रहीम सराहिए, देन लेन की प्रीति।
प्रानन बाजी राखिए, हारि होय कै जीत॥

श्री जयराम मिश्र, एम० ए०, एम० एड०, साहित्यरत्न

श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब के धार्मिक सिद्धान्त

(गतांक से आगे)

कर्म

कर्म "कृ" धातु से बना है, जिसका अर्थ करना होता है। मोटे रूप से व्यष्टि एवं समष्टि के समस्त क्रिया-कलाप इसके अंतर्गत रखे जा सकते हैं। व्यष्टि कर्म के अंतर्गत मनुष्य के व्यक्तिगत कर्म रखे जा सकते हैं। इस व्यक्ति-परक कर्म को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—शारीरिक कर्म, मानसिक कर्म और आध्यात्मिक कर्म। मनुष्य का हँसना, बोलना, उठना, बैठना, स्पर्श करना, गमन करना, देखना, सुनना आदि शारीरिक कर्म के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। मानसिक कर्म शारीरिक कर्म की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। मनुष्य का स्मरण करना, सोचना, कल्पना करना, आदि इस कर्म के अतर्गत रखे जा सकते हैं। आध्यात्मिक कर्म इन दोनों कर्मों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। साधना द्वारा सूक्ष्म की हुई सात्त्विक बुद्धि द्वारा ही इस कर्म का प्रतिपादन हो सकता है। यह कर्म परिभाषा की सीमा मे नही बाँधा जा सकता। सांकेतिक रूप से इसकी परिभाषा निम्नलिखित ढग से की जा सकती है—समस्त जड-चेतन के अंतर्गत एक ही अविनाशी सत्ता अथवा सत्‌चित्, आनन्द की अनुभूति के निमित्त किए हुए कर्म आध्यात्मिक कर्म हैं। यह कर्म अत्यंत व्यापक है। समस्त मानव-जाति के महान पुरुषों को आध्यात्मिक साधनाएँ इस कर्म के अंतर्गत रखी जा सकती हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, राजयोग, प्रेमयोग सभी इसके अंतर्गत रख जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे आध्यात्मिक साधनाएँ भी इसकी परिधि में रखी जा सकती हैं, जिनका नामकरण भी नहीं हुआ है।

यह तो हुई व्यष्टि कर्म के संबंध में बात। अब समष्टि कर्म पर आइए। समष्टि कर्म का तात्पर्य सृष्टि के सामूहिक कर्म से है। ग्रह नक्षत्रों, चन्द्रमा-सूर्यादिकों का बनना, बिगड़ना ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवी आदि का उत्पन्न होना, स्थित होना एवं लीन होना वायु का चलना, अग्नि का जलना, सूर्य का तपना, भयंकर उल्कापातों का होना, आदि समष्टि कर्म हैं।

*सिक्ख-गुरुओं के विचारानुसार पहले परमात्मा को छोड़ कर दूसरी वस्तु थी ही नहीं। महान अंधकार ही था। न धरणी थी और न गगन। न दिन था, न रात थी। चंद्रमा

---

* मारु महला १, (१, २, ३, ४, ५, ६, ७॥३॥१५)

सूर्य सब शून्यावस्था में थे। सृष्टि की न उत्पत्ति थी और न प्रलय था। जन्म और मरण भी नहीं थे। ब्रह्माण्डों के खण्ड, पाताल, सप्त-सागर, नदी और जल भी अविद्यमान थे। इसी प्रकार स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताल भी नहीं बने थे। नरक और स्वर्ग तथा नाश की भी कल्पना नहीं हो पायी थी। न कोई जन्मता था, न मरता था। ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि भी शून्यावस्था ही में थे। एक निराकार परमात्मा को छोड़ कर कोई भी नहीं था। नारि, पुरुष, जातियाँ और जन्मादिक कुछ भी नहीं थे। न कोई दुःख पाता था, और न कोई सुख। यति, सत्यवादी, वनवासी, सिद्ध-साधक, सुखी आदि कोई भी नहीं थे। न कोई जप था, न तप, न संयम, न व्रत, और न पूजा, एक परमात्मा को छोड़ कर द्वैतभाव के लिए कोई स्थान ही नहीं था। वह स्वयंभू परमात्मा स्वयं अपने में प्रतिष्ठित और महिमान्वित था। शुचि, संयम और तुलसी की माला की भी कल्पना नहीं की गयी थी। गोपी, ग्वाल और कृष्ण भी नहीं थे। न कोई तन्त्र थे, न मन्त्र और न वाह्याचार। न श्रीकृष्ण वंशी बजाते थे। इसी प्रकार कर्मों और धर्मों की उत्पत्ति नहीं हुई थी।

परमात्मा की आज्ञा से ही कर्मों की उत्पत्ति हुई। उसी ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उत्पत्ति की और माया के मोह की भी उसी ने वृद्धि की। इस प्रकार कर्मों की उत्पत्ति परमात्मा से हुई।

श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के १५ वे श्लोक मे भी कर्म के ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण का यह कथन है—

> **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।**
> **तस्मातसर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥**

कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी परम अक्षर (परमात्मा) सदा ही यज्ञ मे प्रतिष्ठित है।

जहां तक समष्टि कर्मों का संबंध है हम यह बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सारे समष्टि कर्म परमात्मा के ही भय से होते है। पांचवें गुरु ने इस बात को बहुत स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा का अपार 'हुकुम' पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, पवन, जल, अग्नि और इन्द्र सभी के ऊपर हैं। सभी उसकी अपार आज्ञा से भयभीत होकर अपने अपने कर्मों में प्रवृत होते हैं।

> **उरपै धरति अकासु नख्यत्रा सिर उपरि अमरु करारा।**
> **पउण पाणी बैसंतरु उरपै, उरपै इंद्रु बिचारा॥१॥१॥**

(मारु महला ५, घरु २)

यह विचारावली कठोपनिषद् की निम्नलिखित श्रुति से कितनी समानता रखती है—

> **भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।**
> **भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥३॥**

(कठोपनिषद् अध्याय ३, बल्ली ३)

इस परमेश्वर के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तप रहा है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पांचवां मृत्यु दौड़ता है। यदि सामर्थ्यवान और लोकपालों का ईशन-शील, हाथ में वज्र उठाये रखने वाले (इन्द्र) के समान कोई नियन्ता न होता तो स्वामी के भय से प्रवृत्त होने वाले सेवकों के समान उनकी नियमित प्रवृत्ति नही हो सकती थी।

इस प्रसंग में हम यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहते है कि मनुष्य द्वारा व्यक्ति-परक ही कर्म होते हैं। वह समष्टि-कर्म नही कर सकता। समष्टि-गत कर्म तो विराट् प्रकृति द्वारा ही होते है। मनुष्य व्यक्ति-परक ही कर्म करता है। ऊपर यह बताया गया है कि जिस परमात्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति की, उसी ने कर्मों की भी उत्पत्ति की।

भारतीय विचारक आवागमन के सिद्धान्त को मानते है। इसीलिए किसी व्यक्ति विशेष की स्वाभाविक क्रियाओं में पूर्व जन्म के संस्कारों का परिणाम मानते है। संस्कार क्या है? यह विवादास्पद विषय है। पर संक्षेप मे हम इसे इस भाँति स्पष्ट करते है, "जिस भाँति रेतीली पृथ्वी में चलने से, हमारे पैरों के चिह्न उस पृथ्वी पर पड़ जाते है उसी भांति मन मे उठते हुए संकल्प, मन पर कुछ प्रभाव छोड़ जाते है। यदि बार बार वे ही संकल्प मन मे उठते हैं, तो वे उत्तरोत्तर आदत का रूप धारण कर लेते हैं। हमारे जितने भी कर्म हैं, वे सब संकल्पों के परिणाम हैं। इसलिए यदि हम बार बार उसी कर्म को करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि बार बार वही संकल्प हमारे मन मे आता है। परिणाम यह हुआ कि उस कर्म को करने की हमारी आदत पड़ गयी। यही आदतें क्रमशः धीरे धीरे पुष्ट होकर स्वभाव का रूप धारण कर लेती है और हमारा स्वभाव ही दुःख-सुख का कारण है। हम अधिकांशतः अपने स्वभाव-वश ही अच्छी अथवा बुरी क्रियाओं में प्रवृत होते है। यह स्वभाव हमारे पूर्व जन्मो के किए हुए कर्मों का परिणाम है। इसके बृहत् जाल से मनुष्य का निकलना बहुत कठिन है।"

कारण और कार्य का अन्योन्याश्रित संबंध है। पर इस बात को भुला नही देना चाहिए कि कारण और कार्य के सबध को देखना चेतन मन की ही क्रीड़ा है। जिसमे चेतनता है ही नही, वह कार्य और कारण के वास्तविक सबंध को समझ ही कैसे सकता है? चेतन सत्ता कार्य और कारण को पृथक्-पृथक् देख सकती है। घड़ा कार्य है, कुँभार है कारण। यदि कुँभार घड़े का निर्माण न करे तो घड़े का निर्माण नही हो सकता, हालाकि संसार मे मिट्टी तो बहुत पड़ी हुयी है। कुँभार यदि केवल मिट्टी के पास बैठा रहे, तो उसके बैठने मात्र से घड़ा नही बन सकता। कुँभार घड़ा बनाने का प्रयास करेगा, तब घड़ा बन सकेगा। अतएव कारण और कार्य का सबंध चेतन सत्ता ही के द्वारा स्थापित होता है। बिना चेतन सत्ता के कारण से कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इस सिद्धान्त को श्री गुरु-ग्रन्थ-साहब में बड़े ही सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है।

करण कारण समरथ है कहु नानक बीचारि।
कारन करते वसि है जिनि कल रखी धारि॥२॥

(सलोक सहसकृती महला१)

सारे कर्म, धर्म और सत्य परमात्मा के हाथ में हैं। वह अत्यंत निश्चिन्त है, और उसका भाण्डार महान् है। वह अत्यंत कृपालु और दयालु है और स्वयं अपने आप मिलाता है।

करमु धरमु सचु हाथि तुमारै।
बेपरवाह अखुट भंडारै॥
तू दइआलु किरपालु सदा प्रभु आपे मेलि मिलाइदा ॥१४, १॥१३॥

(माझ महला १ बखणी)

कर्मों का सिद्धान्त कारण और कार्य के सिद्धान्तों का ही रूप है। गुरुओं के अनुसार यह मान्य है कि कर्म अपने आप फल देने में असमर्थ है। 'निरंकार' के 'हुकुम' से ही कर्मों का फल प्राप्त होता है। मनुष्यों के कर्मों की फलदायिनी शक्ति चेतना सत्ता ही है, जो सर्वव्यापिनी है। अतएव यह मानना कि कर्म बिना किसी चेतन शक्ति के सहयोग से स्वतः फल देते हैं नितान्त भ्रामक है। जिस भाँति बुरे कर्मों का निर्णय निर्णायक के यहाँ होता है, इसी भाँति अखिल विश्व के प्राणियों के भले और बुरे कर्मों का लेखा सर्व-नियामक परमात्मा के 'हुकुम' से होता है।

"हुकमी उतम नीच हुकमि लिखि दुख सुख पाइअहि" ॥२॥

(जपु महला १)

पर साथ ही यह दिखाया गया है कि "हुकुम" की कलम हमारे कर्मों के अनुसार चलती है।

"हुकमि चलाए आपणै करमी वहै कलाए।"

(सलोक महला १, वार सारंग महला ४)

कर्म के दो स्वरूप माने गए हैं—शुभ कर्म और अशुभ कर्म, इन दोनों प्रकार के कर्मों का फल होता है।

सुखु दुखु पुरब जनम के कीए।
सो जाणै जिनि दातै दीए॥
किस कउ दोसु देहि तू प्राणी सहु अपणा कीआ करारा हे ॥१४॥४॥१०॥

(मारू महला १)

इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वाधीन है। अतएव वह अपने किए हुए बुरे कर्मों के लिए किसी अन्य को दोषी कैसे बना सकता है? शुभ कर्मों का उसे निश्चित रूप से सुख भोगना पड़ेगा, और अशुभ कर्म उसके दुःख के हेतु होते हैं। इन सब कर्मों का विधान जिस दाता परमात्मा ने सुख और दुःख दिया है वह पूर्ण रूप से जानता है।

इसी भाँति भले और बुरे कर्मों की मीमांसा निम्नलिखित पंक्तियों में और अधिक सुंदर ढंग से की गयी है—

करणी कागदु मनु मसवाणी बुरा भला दुइ लेख पए।
जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलिए तउ गुण नाही अंतु हरे ॥१॥

चित चेतसि की नहीं बावरिआ ।
हरि बिसरत तेरे गुण गलिआ ॥१॥रहाउ ॥
जाली रैनि जालु दिनु हूआ जेती घड़ी फाही तेती
रसि रसि चोग चुगहि नित फासहि छूटसि मूड़े कवन गुणी ॥२॥
काइआ आरणु मनु विचि लोहा पंच अगनि तितु लागि रही ।
कोइले पाप पड़े तिसु ऊपरि मनु जलिआ सन्ही चितु भई ॥ ३॥

(मारुमहला १, घरु १)

"कर्म कागजहै, और मन दवात है। इनके संयोग से बुरी और भली दो प्रकार लिखावटें लिखी गयी हैं। अपने अपने पूर्व जन्मों के किए हुए स्वभाव के द्वारा चलाए जाते है। परमात्मा तुम्हारे गुणों का अन्त नहीं है। अरे बावरे, तू क्यों नहीं चेतता कि प्रभु के भूलने से तुम्हारे सभी गुणों का नाश हो जायगा। रात जाली (छोटा जाल) है, दिन बड़ा जाल है। जितनी घड़ियाँ हैं, तुम्हें निरन्तर फँसाती रहती है। तुम रस ले ले कर जाल के भीतर रखे हुए चारे को चुगते रहते हो, और नित्य फँसते जाते हो। अरे मूढ़, तू अपने को किन गुणों द्वारा उस जाल से मुक्त करेगा? शरीर भट्टी है मन इस भट्टी का लोहा है। पांच अग्नियां (काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार) निरन्तर इस शरीर रूपी भट्टी में जल कर, मन रूपी लोहे को तपाती रहती है। तुम्हारे पाप रूपी कोयले उस अग्नि के ऊपर पड़ कर, उसे और भी प्रज्वलित करते रहते हैं। मन रूपी लोहा चिन्ता रूपी सणसी के द्वारा पकड़ा जा कर निरतर जलता रहता है।"

अब हमारे सामने स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि हम किन कर्मों से बँधते है, और किन कर्मों से मुक्त होते है? बंधन वाले कर्म 'अहंभाव' से किये जाते है। इस अहंभाव (हउमै) से ही ससीमपना आ जाता है। अहम् भाव द्वारा किए हुए सारे कार्य जन्म और मरण के हेतु होते है। यह अत्यन्त भयानक रोग है।

हउमै जाति है हउमै करम कमाहि।
हउमै एई बंधना फिरि फिरि जोनी पाहि ॥
हउमै किथहु ऊपजै कितु संजम इह जाइ ॥
हउमै एहो हुकुम है पइऐ किरति फिराहि ॥
हउमै दीरघ रोगु है दारू भी इसु माहि ।
किरपा करे जे आपणी ता गुर का सबदु कमाहि ।
नानकु कहै सुणहु जनहु इतु संजमि दुख जाहि ॥२॥७॥

(वार आसा महला १)

"अहंभाव में व्यक्तिगत अहंकार होता है। सभी कर्म इसी अहंभाव में किए जाते हैं इसीलिए अहंभाव बंधन का कारण है, और बार बार योनि के अंतर्गत आना पड़ता है (जन्म-धारण करना पड़ता है।) यह अहंभाव कहाँ से उपजता है? किन संयमों से इसका नाश होता है?

इसकी उत्पत्ति परमात्मा के 'हुकुम' से हुई है। अपने ही स्वभावों से बँधा हुआ वह जाता है और आता है। यह अहंकार ही भयानक रोग है। इसी अहंकार में (उस अहंकार रोग को दूर करने के लिये) औषधि भी है। यदि परमात्मा (जीव के ऊपर) अपनी कृपा कर दे, तो मनुष्य गुरु के शब्द पर अभ्यास करना प्रारम्भ कर देता है। नानक का कथन है कि ऐ परमात्मा के भक्तो, सुनो, इसी संयम से दुःखों का नाश होता है।"

मूर्खों के सारे कर्म आशा-पाश में बंधे होते हैं। उसका प्रेम काम क्रोध में ही रहता है। उसके सारे कार्य अहंभाव से प्रेरित होकर संपादित हुआ करते हैं। वह अपने को ही कर्ता धर्ता मानता है। वह यही सोचता है, 'मैं लोगों को बाँधता हूँ मैं बैर करता हूँ। यह हमारी भूमि है; इसपर कौन पैर रख सकता है। मैं पंडित हूँ, चतुर हूँ और सज्ञान हूँ।' वह अज्ञानी पुरुष वास्तविक कर्त्ता पुरुष परमात्मा को रंच मात्र समझने का प्रयास नहीं करता। बात यह है कि विषय भोगों में सदैव लिप्त रहने से वह ज्ञानान्ध हो जाता है। अतएव इससे वह उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह अपने शरीर में केन्द्रित होकर यही समझता है, "मैं यौवन-सम्पन्न हूँ, मैं आचार-वान हूँ, मैं कुलीन हूँ" इस प्रकार की बुद्धि में वह जीवन पर्यन्त बँधा रहता है। मरते समय भी उसकी यह बुद्धि विस्मृत नहीं होती। अपने भाइयों, मित्रों, संबंधियों को अपनी सारी वस्तुएँ सौंप कर चला जाता है। जिस वासना में उसने समस्त जीवन व्यतीत किया है, वही अंत में साकार रूप धारण कर उसके सामने प्रकट होती है।

आसा बंधी मूरख देह। काम क्रोध लपटिओ असनेह॥
सिर उपरि ठाढ़ो धरमराइ। मीठी करि करि बिखिआ खाइ॥
हउ बंधउ हउ साधउ बैरु। हमरी भूमि कउणु घाले पैरु॥
हउ पंडित हउ चतुर सिआणा। करणैहारु न बुझै बिगाना॥३॥१॥७८

(गउड़ी गुआरेरी महला ५)

रंग संगि बिखिआ के भोगा इन संगि अंध न जानी॥१॥
हउ संचउ हउ खाटता सगली अवधि बिहानी॥रहाउ॥
हउ सूरा परधानु हउ को नाही मुझहि समानी॥२॥
जोबनवंत अचार कुलीना मन महि होइ गुमानी॥३॥
जिउ उलझाइओ बाध बुधि का मरतिआ नहीं बिसरानी॥४॥
भाई मीत बंधप सखे पाछे तिन हू कउ संपानी॥५॥
जितु लागो मनु बासना अंति साई प्रगटानी॥६॥३॥१५॥४४॥

(गउड़ी महला ५)

श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर हम अहंभाव वाली बुद्धि को आसुरी संपदा के अंतर्गत रख सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी संपदाओं का विस्तृत विवेचन हुआ है। दैवी संपदा तो मुक्ति का कारण मानी गयी है, और आसुरी संपदा बंधन में डालने

वाली। श्रीगुरुग्रंथ साहब में वर्णित अहंभाव की प्रवृत्तियों तथा श्रीमद्भगवद्गीता की आसुरी प्रवृत्तियां अत्यधिक साम्य है।

कामभाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमान मदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वा सद्भावान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः काम क्रोध परायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानास्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधि पूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १६)

"दम्भ मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर तथा अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए (संसार में) बर्तते हैं ॥१०॥

मरण पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं का आश्रय किये हुए और विषय भोगों में तत्पर हुए एवं 'इतना मात्र ही आनन्द है'—ऐसे मानने वाले हैं ॥११॥

आशा रूप सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए और काम क्रोध के परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थों को (संग्रह करने की) चेष्टा करते हैं ॥१२॥

(और उन पुरुषों के विचार इस प्रकार होते हैं)—मैंने आज यह (तो) पाया है (और) इस मनोरथ को प्राप्त होऊँगा, तथा मेरे पास यह (इतना) धन है (और) फिर भी यह होगा ॥१३॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्यों को भोगने वाला हूँ। मैं सब सिद्धियों से युक्त, बलवान और सुखी हूँ ॥१४॥

मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, हर्ष को प्राप्त हूँगा — इस प्रकार के अज्ञान से मोहित हैं ॥१५॥

इसलिये वे अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्त वाले (अज्ञानी जन) मोह रूप जाल में फँसे हुए एवं विषय भोगों में अत्यंत आसक्त हुए महान अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥१६॥

वे अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त, शास्त्र-विधि से रहित, केवल नाम मात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से भजन करते हैं ॥१७॥

अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण हुए एवं दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अंतर्यामी से द्वेष करने वाले हैं ॥१८॥

ऐसे उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बार बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ ॥१९॥

श्री गुरु-ग्रंथ साहब में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि आशा (फल-प्राप्ति की आशा) में किये हुए सारे कर्म और धर्म बंधन के हेतु है। वह पुरुष पूर्व जन्मों के पापों और पुण्यों के संस्कारों को लेकर जन्म धारण करता है, और नाम को भूल कर विनष्ट हो जाता है। यह माया जगत् में अत्यंत मोहिनी है। लोग इसी में मोहित हो कर जितने भी कर्म करते हैं, वे सारे के सारे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। कर्मकाण्डी पंडितों को चेतावनी दी गयी है, जिस कर्म से वास्तविक सुख की उत्पत्ति होती है, वह आत्मिक तत्व का विचार करना है। कर्मकाण्डी पण्डित तो शास्त्रों और वेदों को बकते अवश्य है, किन्तु उनके सारे कर्म सांसारिक हुआ करते हैं, अर्थात् आसुरी भाव, अहकार से युक्त होते हैं। उनके सारे कर्म पाखण्ड से परिपूर्ण होते हैं। परिणाम यह होता है कि आंतरिक मल की निवृत्ति उन पाखडपूर्ण कर्मों से नहीं होती। आंतरिक मल की निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जिस भाँति मकरी उल्टा सिर करके अपने ही आप द्वारा बनाये गये जाले में फंस कर नष्ट हो जाती है, उसी भाँति सांसारिक कर्म करने वाले व्यक्ति अहंकार से युक्त कर्मों को करके, अपने लिये फँसाने का जाल बना कर, और अंत में उसीमें फंस कर नष्ट हो जाते हैं।

आसा मनसा बंधनी भाई करम धरम बंधकारी।
पापि पुंनि जगु जाइआ भाई बिनसै नामु विसारी॥
इह माइआ जगि मोहणी भाई करम सभे वेकारी ॥१॥
सुणि पंडित करमाकारी।
जितु करमि सुखु उपजै भाई सु आतम ततु बीचारी ॥रहाउ॥
सासतु बेदु बकै खड़ो भाई करम करहु संसारी॥
पाखंडि मैलु न चूकई भाई अंतरि मैलु विकारी।
इन विधि डूबी माकुरी भाई ऊंडी सिर कै भारी ॥२॥२॥

(सोरठि महला १ घरु १ असटपदीआ चउतुकी

मनमुख अज्ञानी और अहंकारी है। उसके भीतर महान क्रोध और अहंकार है । इसी से वह जीवन रूपी द्युत-क्रीड़ा में अपनी बुद्धि रूपी बाजी हार जाता है। उसके अन्तर्गत अत्याधिक अहंकार और अत्याधिक चतुराई रहती है, अतएव वह जो कुछ भी कर्म करता है, उसका अन्त नहीं होता। वह इसीलिये जन्मता और मरता रहता है, उसके लिये कोई स्थान नहीं रहता। मनमुख अत्यंत अहंकार की भावना से कर्म करता है, वह बकुले की भाँति नित्य ध्यान में बैठता है, उसके इन कर्मों के लिये जब यमराज पकड़ते हैं, तब वह पछताता है।

मनमुख अगिआनु दुरमति अहंकारी।
अंतरि क्रोधु जूए मति हारी॥
कूड़ु कुसतु ओहु पाप कमाये।
किआ ओहु सुनै किआ आखि सुणावै॥

(गउड़ी सलोक महला ३)

मनमुखि उंकु बहुतु चतुराई।
जो किछु कमावै सु थाइ न पाई॥
आवै जावै ठउर न काई॥५॥
मनमुख करम करे बहुत अभिमाना।
बग जिउ लाइ बहै नित धिआना॥
जम पकड़िआ तब ही पछुताना॥६॥२॥

(रागु गउड़ी गुआरेरी महला ३ असटपदीआ)

इसी भाँति मनमुख जगत् की झूठी प्रीति में अपना मन लगाता, है। हरि भक्तों से वह सदैव झगड़ा किया करता है। माया में मग्न वह निरन्तर सांसारिक पथ की प्रतीक्षा करता है। वह परमात्मा का नाम भूल कर भी नहीं लेता, सांसारिक विषय रूपी विष खाकर मरता रहता है। वह सदैव गंदी बातों में अनुरक्त रहता है, गुरु के शब्द पर भूल कर भी ध्यान नहीं देता। इस प्रकार मनमुख परमात्मा के प्रेम में अनुरक्त नहीं होता और उसके रस को नही जानता। वह अपनी मर्यादा गंवा देता है। साधु-संगति के सहज सुख का रसास्वादन वह नहीं करता। उसकी जिह्वा में तिल मात्र परमात्मा के नाम का रस नहीं है। आसुरी प्रवृत्ति से प्रेरित हो कर वह तन, मन और धन को अपना समझता है। परमात्मा के वास्तविक घर की उसे स्वप्न में भी खबर नहीं रहती। वह आँखें बंद कर कर के इस संसार से महान अंधकार में कूच करता है। उसे अपने वास्तविक घर के दरवाजे (परमात्मा की प्राप्ति) की चिन्ता नहीं रहती। इस प्रकार वह आसुरी प्रवृत्तियों द्वारा यमराज के दरवाजे पर बाँधा जाता है, उसे स्थान नहीं मिलता, और अपने किए हुए कर्मों का फल पाता है।

जग सिउ झूठ प्रीति मनु बेधिआ जन सिउ वादु रचाई।
माइआ मगनु अहिनिसि मगु जोहै नामु न लेवै मरै बिखु खाई॥

कंचन कंमि रता हितकारी सबदं सुरति न आई।
रंगि न राता रसि नहि बेधिआ मनमुखि पति गवाई ॥२॥
साध सभा महि सहजु न चाखिआ जिहवा रसु नही राई।
मनु तनु धनु अपुना करि जानिआ दर की खबर न पाई ॥
अखी मीटि चलिआ अंधिआरा घरु दरु दिसै न भाई।
जम दरि बाधा ठउर न पावै अपुना कीआ कमाई ॥३॥३॥
(सोरठि महला १ घरु १ चउपदे)

सांसारिक पुरुषों के सारे कार्य अहंकार ही में हुआ करते हैं। आदि गुरु नानक देव ने इसका अत्यंत सुन्दर वर्णन किया है,—

हउ विचि आइआ हउ विचि गइआ। हउ विचि जंमिआ हउ विचि मुआ॥
हउ विचि दिता हउ विचि लइआ। हउ विचि खटिआ हउ विचि गइआ॥
हउ विचि सचिआरु कुड़िआरु। हउ विचि पाप पुंन वीचारु॥
हउ विचि नरकि सुरगि अवतारु।
हउ वीचि हसै हउ विचि रोवै। हउ विचि भरीऐ हउ विचि धोवै ॥
हउ वीचि जाती जिनसी खोवै।
हउ वीचि मूरखु हउ वीचि सिआणा। मोख मुकुति की सार न जाणा ॥
हउ वीचि माइआ हउ वी चि छाइआ। हउमै करि करि जंत उपाइआ॥
हउमै बूझै ता दरु सूझै। गिआन विहूणा कथि कथि लूझै॥
नानक हुकमी लिखीऐ लेखु। जेहा वेखहि तेहा वेखु ॥१॥
(आसा महला १ वार सलोका नालि)

वाह्य कर्मों तथा वेश इत्यादि से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। वाह्य कर्मों से अंतःकरण की शुद्धि होना असंभव है और जब तक अंतःकरण की शुद्धि नहीं होती, तब तक परमात्मा की प्राप्ति भी असंभव ही है। गुरुओं ने इसकी बड़ी सुन्दर मीमांसा की है।

हठु निग्रहु करि काइआ छीजै। वरतु तपनु करि मनु नहि भीजै।
राम नाम सरि अवरु न पूजै ॥१॥
गुरु सेवि मना हरि जन संगु कीजै।
गुरु सेवि मना हरि जन संगु कीजै।
जमु जंदारु जोहि नहि साकै सरपनि डसि न सकै हरि का रसु पीजै ॥१॥रहाउ
वादु पड़ै, रागी जगु भीजै। त्रैगुण बिखिआ जनमि मरीजै।
राम नाम बिनु दूखु सहीजै ॥२॥

आइसि[1] पवन सिंघासनु भीजै।[2] निउली करम खटु करम करीजै ॥
राम नाम बिनु बिरथा सासु लीजै ॥३॥
अंतरि पंच अगिनि किउ धीरज धीजै। अंतरि चोर किउ सादु लहीजै।
गुरमुखि होइ काइआ गड़ु लीजै ॥४॥
अंतरि मैलु तीरथ भरमीजै। मनु नहिं सूचा किआ सोच करीजै।
किरतु पइआ दोसु का कउ दीजै ॥५॥
अंनु न खाहि देही दुख दीजै। बिनु गुर गिआन तृपति नही थीजै ॥
मनमुख जनमै जनमि मरीजै ॥६॥५॥

(रामकली महला १, असटपदीआं)

पाठु पड़िओ अरु बेदु बीचारिओ निवलि भुअंगम साधे।
पंच जना सिउ संगु न छुटकिओ अधिक अहंबुधि बाधे ॥१॥
पिआरे इन बिधि मिलणु न जाई मै कीए करम अनेका।
हारि परिओ सुआमी कै दुआरै दीजै बुधि बिबेका ॥रहाउ॥
मोनि भइओ करपाती रहिओ नगन फिरिओ बन माही।
तट तीरथ सभ धरती भ्रमिओ दुबिधा छुटकै नाही ॥२॥
मन कामना तीरथ जाइ बसिओ, सिर करवत धराए।
मन की मैलु न उतरै इह बिधि जे लख जतन कराए ॥३॥
कनक कामिनी हैवर गैवर बहु बिधि दानु दातारा।
अंन बसत्र भूमि बहु अरपे नह मिलिऐ हरि दुआरा ॥४॥
पूजा अरचा बंदन डंडउत खटु करमा रतु रहता।
हउ हउ करत बंधन महि परिआ नह मिलीऐ इह जुगता ॥५॥
जोग सिध आसण चउरासीह ए भी करि करि रहिआ।
वडी आरजा फिरि फिरि जनमै हरि सिउ संगु न गहिआ ॥६॥
राज लीला राजन की रचना करिआ हुकमु अफारा।
सेज सोहनी चंदन चोआ नरक घोर का दुआरा ॥७॥

---

१. पवन को दशम द्वार में चढ़ा कर उसका स्वाद लेते हैं।

२. हठयोग के षट्-कर्म (क) धोती (कपड़े की पट्टी निगल कर शरीर के भीतर की सफाई करके बाहर निकाल लेना) (ख) नेती (सूत नासिका से निगल कर मुंह से निगल कर मुंह से निकालना) (ग) नेवली (पेट की अंतड़ियां को चारों ओर घुमाना) (घ) वसती (बांस की नलिका गुदा द्वार में रख कर श्वास के बल से पानी चढ़ाना और अंतड़ियों को साफ करके पानी उसी नलिका से बाहर निकाल देना)। (ङ) त्राटक (च) कपाल-भाती (नाड़ियों की शुद्धि के निमित्त लोहार की भट्ठी के सदृश श्वासों को चढ़ाना और उतारना)।

हरि कीरति साध संगति है सिरि करमनि कै करमा।
कहु नानक तिसु भइओ परापति जिसु पुरब लिखे का लहना ॥८॥
तेरो सेवकु इह रंगि माता।
भइओ क्रिपालु दीन दुख भंजनु हरि हरि कीरतनि इहु मनु राता ॥१॥३॥
(सोरठि महला ५ घरु २ असटपदीआं)

इसी प्रकार वेश धारण से भी कुछ भी नही होता। योग की प्राप्ति न तो कथा धारण करने से होती है, और न दण्ड धारण करने से। इसी प्रकार भस्म धारण करने से भी योग की सिद्धि नही प्राप्त होती। न मूँड मुँडाने से, और न कानो मे मुद्रा पहनने से कोई योगी हो जाता है, सिंगी बजाने से भी कोई योगी नही बन जाता है।

जोगु न खिंथा जोगु न डंडै जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मूडि मुडाइऐ जोगु न सिंगी वाईऐ॥
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोगु जुगति इव पाईऐ ॥१॥१॥८॥
(सूही महला १ घरु ७)

इसी भाँति तप, जप आदि कर्म भी अहकार को नष्ट करने में समर्थ नही है, बल्कि कभी कभी वे हमारे अहभाव को भी और परिपुष्ट कर देते हैं।

जप तप बरत कीने पेखन कउ चरणा राम।
तपति न कतहि बुझै बिनु सुआमी सरणा राम ॥२॥३॥६॥
(बिहागड़ा महला ५ घरु २ छंत)

शौच, तीर्थयात्रा, स्नानादिक कर्म अत करण के मल को धोने मे असमर्थ है।

बाहरु धोइ अंतरु मनु मैला दुइ ठउर अपने खोए।
ईहा कामि क्रोधि मोहि विआपिआ आगै मुसि मुसि रोए ॥१॥
गोबिंद भजन की मति है होरा॥
वरमी मारी सापु न मरई नामु न सुनई डोरा ॥१॥रहाउ॥
माइआ की किरति छोडि गवाई भगती सार न जानै।
बेद सासत्र कउ तरकनि लागा ततु जोगु न पछानै ॥२॥
उघरि गइआ जैसा खोटा ढबूआ नदरि सराफा आइआ।
अंतरजामी सभु किछु जानै उस ते कहा छपाइआ ॥३॥
कूड़ि कपटि बंचि निमुनीआदा बिनसि गइआ ततकाले।
सति सति सति नानक कहिआ अपनै हिरदै देखु समाले ॥४॥३॥४२॥
(रागु आसा घरु ६ महला ५)

कर्मों द्वारा सहजावस्था की उत्पत्ति नहीं होती। उनसे अज्ञान की निवृत्ति भी नहीं होती। बिना सहजावस्था के भ्रमों का भी निवारण नहीं हो पाता।

करमी सहजु न ऊपजै विणु सहजै सहसा न जाइ।
नहि जाइ सहसा कितै संजमि रहे करम कमाइ॥

(रामकली महला ३ अनंदु

करम करहि गुर सबद न पछाणहि मरि जनमहि वारं वार ॥२॥६॥

(सोरठि महला ३)

ऊपर के उदाहरणों से इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिये कि गुरु लोग शुभ कर्मों के त्याग पर जोर देते हैं। इस बात को हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि गुरुओं ने शुभ कर्मों के आचारण पर बहुत अधिक बल दिया है। हाँ, उन्होंने उस शुभ कर्म की भी निन्दा की है, जो अहंभाव से प्रेरित हो कर किए जाते हैं। अहंभाव से किए हुए कर्म बंधन के हेतु हैं। जंजीर चाहे लोहे की ही, अथवा सोने की, दोनों ही बाँधने में समर्थ हैं।

पर गुरु लोग शुभ कर्मों की महत्ता पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। वे शुभ कर्मों को पार उतरने का साधन मानते हैं।

विणु करमा कैसे उतरसि पारे॥५॥२

(रामकली महला १ असटपदीआं

करणी बाझहु तरै न कोइ। सचो सचु वखाणै कोइ॥

(रामकली की वार महला १)

स्थान स्थान पर गुरुओं, नाम दान, और स्नानादिक शुभ कर्मों को करने का संकेत किया है। परोपकार करने के लिये भी प्रेरित किया है—

नाम दानु इसनानु न कीओ इक निमिख न कीरति गाइओ
नाना झूठि लाइ मनु तोखिओ नह बूझिओ अपनाइओ ॥३॥
पर उपकार न कबहू कीए नही सतिगुरु सेवि धिआइओ
पंच दूत रचि संगति गोसहि मतवारो मद माइओ ॥४॥१॥३॥

(टोडी महला ५ घरु चउपदे)

स्थान स्थान सत्य, शील, संयम स्नान, पुण्य, दान आदि के आचरण पर भी बल दिया है।

जतु सतु संजमु सीलु न राखिआ प्रेत पिंजर महि कासटु भइआ।
पुंनु दानु इसनानु न संजम साध संगति बिनु बादि जइआ ॥२॥७॥

(रामकली महला १)

गुरु नानक देव ने आध्यात्मिक कर्मों को सच्चा माना है। इन्हीं कर्मों के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है —

अधिआतम करम करे ता साचा । मुकति भेदु किआ जाणै काचा।
ऐसा जोगी जुगति बीचारै। पंच मारि साचु उरिधारै॥१॥रहाउ॥
जिसकै अंतरि साचु वसावै। जोग जुगति की कीमति पावै॥२॥
रवि ससि एको गृह उदिआनै। करणी कीरति करम समानै॥३॥
एक सबद इक भिखिआ मागै। गिआनु धिआनु जुगति सचु जागै॥४॥
भै रचि रहै न बाहरि जाइ। कीमति कउण रहै लिव लाइ॥५॥
आपे मेले भरम चुकाए। गुर परसादि परम पदु पाए॥६॥
गुर की सेवा सबदु पीचारु। हउमै मारे करणी सारु॥७॥
जप तप संजम पाठ पुराणु। कहु नानक अपरंपर मानु॥८॥

यदि हम उपर्युक्त पद पर ध्यान पूर्वक विचार करें तो हमें गुरु नामक देव ने आध्यात्मिक कर्म के अंतर्गत निम्नलिखित बातें बताई हैं:—(क) पंच कामादिकों को मारना (ख) सच्चाई धारण करना (ग) एक परमात्मा की ज्योति सर्वत्र देखने का प्रयास करना (घ) गुरु के शब्द (शिक्षा) पर आचरण करना (ङ) परमात्मा का भय मानना (च) आत्म चिंतन करना। (छ) गुरु की कृपा में परम विश्वास (ज) गुरु की सेवा। (झ) अहंकार को मारना (ञ) जप, तप और संयम (ट) धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन।

इस प्रकार यदि हम गंभीरतापूर्वक सोचें, तो यह सिद्ध हो जाता है कि गुरु-वाणी कभी भी विहित कर्मों को त्यागने के लिये नहीं कहती, बल्कि उनके आचरण पर बल देती है। बात केवल यह है कि अहंकार के त्याग द्वारा शुभ कर्मों के आचरण पर बल देती है।

पाँचवें गुरु ने आत्म-साक्षात्कार संबंधी निम्नलिखित कर्म बतलाए हैं:—

गुर का सबदु रिद अंतरि धारै। पंच जना सिउ संग निवारै॥
दस इंद्री करि राखै वासि। ता कै आतमै होइ परगासु॥१॥
ऐसी दृड़ता ता कै होइ। जा कउ दइआ मइआ प्रभु सोइ॥रहाउ॥
साजनु दुसटु जा कै एक समानै। जेता बोलणु तेता गिआनै॥
जेता सुनणा तेता नामु। जेता पेखनु तेता धिआनु॥२॥
सहजे जागणु सहजे सोइ। सहजे होता जाइ सु होइ।
सहजि बैरागु सहजे ही हसना। सहज चूप सहजे ही जपना॥३॥३॥

(गउड़ी महुला ५)

पाँचवें गुरु के उपर्युक्त पद के अनुसार आत्म-साक्षात्कार संबंधी साधन निम्नलिखित हैं:—(क) गुरु का "सबद" हृदय में धारण करना (ख) काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से बचना। (ग) पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों को वश में करना। (घ) दुष्ट और सज्जन को समान दृष्टि से देखना। (ङ) ज्ञान पूर्ण बातों का कथन। (च) विराट परमात्मा की उपासना (छ) सहजावृत्ति (ज) उपर्युक्त दृढ़ताएँ तभी प्राप्त होती हैं जब प्रभु की महती अनुकम्पा हो, अतएव प्रभु की महती अनुकम्पा में दृढ़ आस्था का होना।

अंत में एक बात और कह कर हम इस विषय को समाप्त करना चाहते हैं। प्रभु का सच्चा सेवक कर्म से विमुख नहीं होता। उसके अंतःकरण में प्रभु की आज्ञा की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है, और वह उसी के अनुसार सारे जगत् के आचरणों में प्रवृत्त होता है। उसे प्रभु की आज्ञा होती है, तो वह ध्यान करता है, और प्रभु की आज्ञा के अनुसार ही वह ध्यान छोड़कर लोगों में आत्मविद्या का प्रचार करता है। यदि प्रभु की आज्ञा हुई तो धर्म-रक्षा के निमित्त, लोगों का संकट दूर करने के लिये हँसते हँसते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, और यदि प्रभु की आज्ञा होती है तो स्वयं हाथ में कृपाण धारण कर 'सवा लाख से एक को लड़ाता है।' **प्रभु की आज्ञा में अपनी इच्छाशक्ति और कर्मों को जोड़ देना यही कर्म का वास्तविक रहस्य है।** यह कर्म बंधन का हेतु नहीं, अपितु मोक्ष के साक्षात् द्वार को खोलने वाला हो जाता है। ऐसे ही कर्मों के हाथ में मुक्ति की कुंजी है:—

जैसी आगिआ कीनी ठाकुरि तिसते मुखु नहि मोरिओ।
सहजु अनंदु रखिओ गृह भीतरि उठि उआहू कउ दउरिओ ॥२॥
आगिआ महि भूख सोई करि सूखा सोग हरख नहीं जानिओ।
जो जो हुकुम भयो साहिब का सो माथै लै मानिओ ॥३॥
भइओ कृपालु ठाकुर सेवक कउ सवरे हलत पलाता
धंनु सेवकु सफल ओहु आइआ जिनि नानक खसम पछाता ॥४॥५

(मारू महला ५)

[असमाप्त]

पुस्तक-परिचय

व्यक्ति और राज्य—लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञानवापी, बनारस; पृष्ठ संख्या १३५, मूल्य १ रु० ४ आना।

यह संसार की राजनीति का एक बड़ा ही विवाद-ग्रस्त प्रश्न रहा है कि राज्य के कार्य और अधिकार की क्या सीमा होनी चाहिए और व्यक्ति को उसके अन्दर कितनी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। प्लेटो से लेकर हर्बर्ट स्पेन्सर तक अनेक राजनीतिक दार्शनिकों ने इस विषय पर अपने-अपने मत प्रकट किए हैं। फिर भी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से इस विषय का महत्व आज भी बना हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक स्वयं एक विचारक और दार्शनिक हैं। वे राजनीतिक प्रश्नों का व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव भी रखते हैं। व्यक्ति और राज्य के अधिकारों के सम्बन्ध में जितने भी मुख्य मुख्य सिद्धान्त और विचार हैं, उन सबका इस छोटी सी पुस्तक में उन्होंने दिग्दर्शन कराया है। प्राचीन भारत के तपस्वी विद्वानों के क्या विचार थे, इसकी चर्चा भी उन्होंने की है। यही नहीं, लेखक ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंधों का "समीचीन सिद्धान्त उन दार्शनिक विचारों पर खड़ा है" जिनको मानव समाज के सामने पहले पहल रखने का श्रेय भारत के ऋषि-मुनियों और उनकी परंपरा पर चलने वाले तपस्वी विद्वानों को प्राप्त है।" आज राज्य का रूप बहुत बदल गया है। उसके कर्त्तव्यों और अधिकारों का बड़ा प्रसार हो गया है। राज्य का कार्य-कलाप व्यक्ति के जीवन को चारों ओर से छा लेता है। इसी प्रकार आज का व्यक्ति भी पहले की तरह सीधा सादा व्यक्ति नहीं रह गया है। सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास के साथ उसके व्यक्तित्व के बहुत से पहलू हो गए हैं। राज्य के अतिरिक्त अनेक दूसरी संस्थाओं से उसका घनिष्ट संबंध रहता है। वह उन संस्थाओं के प्रति न्यूनाधिक भक्ति रखता है। पद-पद पर राज्य का मुंह ताकते हुए भी वह अधिक से अधिक स्वतंत्र रहना चाहता है। स्वतंत्रता के प्रति उसका अनुराग बढ़ गया है। उसके लिए स्वतंत्रता का मूल्य व महत्व बढ़ गया है। फलत: वर्तमान काल में व्यक्ति और राज्य के संबंधों के बीच समन्वय और सामंजस्य करना बड़ा आवश्यक हो गया है।

अध्यात्मवाद, द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद, फासिस्टवाद और नात्सीवाद आदि सिद्धान्तों की चर्चा और आलोचना करने के उपरान्त विद्वान् लेखक ने कतिपय अध्यायों में यह बतलाया है कि सभी लोग सुख की खोज में रहते हैं और स्वाधीनता की खोज भी उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि सुख की खोज। मनुष्य की आत्मा वस्तुतः स्वतंत्र है। स्वाधीनता मनुष्य का स्वभाव है।

स्वाधीनता का निरूपण तीन अध्यायों में किया गया है और बतलाया गया है कि कैसी शासन व्यवस्था इसके अनुकूल हो सकती है। आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति अधिक से अधिक स्वाधीनता के साथ रह सके। लेखक ने भारतीय दृष्टिकोण से प्रभावित होकर यह मन्तव्य प्रकट किया है कि व्यक्ति आत्मज्ञान—अपने स्वरूप के ज्ञान—के लिए भूखा रहता है। स्वाधीनता के साथ रहने का उसे जितना ही अवकाश मिलेगा उतना ही अपना रूप उसके सामने आयेगा। स्वाधीन जीवन में ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। अतः राज्य का कर्त्तव्य उन परिस्थितियों को उत्पन्न करना है जिनमें व्यक्ति आत्म ज्ञान प्राप्त कर सके और व्यक्तित्व का विकास हो सके। उन परिस्थितियों का निराकरण करना भी उसका धर्म है जो इसके बाधक हैं। राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए और ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जिसमें लोग स्वार्थसिद्धि की भावना त्याग कर निस्वार्थ सेवा, परार्थ चिंतन तथा आत्मोत्सर्ग के लिए उद्यत रहें।

पुस्तक उपयोगी तथा पठनीय है। तीसरे संस्करण का प्रकाशित होना ही इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी संसार ने उसे पसन्द किया है। पुस्तक की छपाई तथा कागज साधारण है।

—शंकर दयालु श्रीवास्तव, एम० ए०

अच्छी हिन्दी—लेखक—श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक—हिमालय एजेंसी, कनखल; पृष्ठ संख्या १५७, मूल्य २॥)

पं० किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी-विद्यार्थियों के लिए जितनी पुस्तकें लिखी हैं उनमें अच्छी हिन्दी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'राष्ट्र भाषा का प्रथम व्याकरण' तथा 'हिन्दी-निरुक्त' के रूप में उन्होंने सर्व प्रथम भाषा के स्वरूप और शब्दों के विकास का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया था। इन दोनों पुस्तकों से हिन्दी-विद्यार्थियों को अपनी भूलें सुधारने का अवसर मिला। भाषा-सम्बन्धी बारीकियां उनकी समझ में आयीं और उन्होंने अपनी शैली का परिष्कार किया। प्रस्तुत पुस्तक उसी दिशा में एक तीसरी कड़ी है। इसमें भाषा के परिष्कार, पद-प्रयोग और वाक्य-विन्यास आदि पर वाजपेयी जी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकाश डाला है। वाजपेयीजी सफल अध्यापक रह चुके हैं। इसलिए उनकी शैली अत्यन्त मनोरंजक, शीघ्र समझ में आने वाली और सरल है। व्याकरण की कठिनतम गुत्थियों को सरल वाक्यों द्वारा समझाने में उनकी शैली अद्वितीय है।

प्रस्तुत पुस्तक में केवल चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में अच्छी रचना और अच्छी भाषा के गुणों का व्याख्यान है। वाजपेयीजी भाषा के पारखी हैं और शुद्ध भाषा लिखने के पक्षपाती हैं। अच्छी रचना अच्छी भाषा कैसी होनी चाहिए इसे वह भली भांति समझते हैं। इसीलिए इसी अध्याय के अन्तर्गत उन्होंने उदाहरण देकर अच्छी भाषा का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में हिन्दी के स्वरूप-गठन पर प्रकाश डाला गया है। भाषा की आत्मा को समझे बिना उसका प्रयोग उचित नहीं होता। इसीलिए इस अध्याय की आवश्यकता

पड़ी है। तीसरे अध्याय में शब्द-संग्रह, शब्दों का उचित प्रयोग तथा शब्दों का अविज्ञात प्रयोग आदि विषयों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है और उदाहरण द्वारा इन विषयों को हृदयंगम कराया गया है। वास्तव में यही अध्याय शुद्ध भाषा लिखने की कसौटी है। चौथे अध्याय में शब्दों के प्रयोग-वैशिष्ठ्य तथा लाक्षणिक प्रयोग पर विशद व्याख्या है। यह अध्याय भी अपने स्थान पर उपयुक्त है। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक आदि से अन्त तक अत्यन्त उपयोगी और विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपादेय बना दी गयी है।

'अच्छी हिन्दी' शीर्षक से सर्वप्रथम वर्माजी ने शुद्ध-रचना की ओर नवीन हिन्दी-लेखकों तथा हिन्दी-विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया था। उसमें उन्होंने अपने विषयों को अपने ढंग से समझाने की चेष्टा की थी। वाजपेयीजी ने वही सूत्र पकड़ कर विद्यार्थियों के सामने कुछ नयी बातें अपने ढंग से रखी हैं और शुद्ध-रचना के लिए उसकी सार्थकता सिद्ध की है। वाजपेयीजी का यह प्रयास अत्यन्त सफल और प्रशसनीय है और हमें पूर्ण विश्वास और आशा है, कि हिन्दी-विद्यार्थी इस पुस्तक से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

—राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

कायर—लेखक—श्री राजेन्द्र शर्मा; प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई; मूल्य १।।।≡)

कायर में लेखक ने आज के सामाजिक जीवन को मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। गार्हस्थ्य जीवन में पुरुष और नारी का समान अस्तित्व है। यदि पुरुष अथवा स्त्री में किसी भाँति का भ्रम तथा सन्देह पैदा हो जाता है तो उनमें से प्रत्येक का जीवन भार-स्वरूप मालूम पड़ने लगता है। जीवन की सम्पूर्ण आशाएँ अंधकार में विलीन हो जाती हैं। भारतीय समाज में नारी के अपने आदर्श हैं। यदि उसके पति के जीवन में पर नारी पदार्पण करना चाहती है, तो नारी इसे अपना अपमान समझती है और वह अथाह सागर की लहरों में ही अपने को विलीन कर देने में सुख का अनुभव करती है।

रमा को अपने पति शशिनाथ पर सन्देह होने लगता है। वह अपने जीवन को सदैव के लिए समाप्त कर देने पर तत्पर हो जाती है, पर सौभाग्यवश जिसके ऊपर उसका सन्देह था वही उसे बचाने गई थी और वह है सुमन।

पुरुष को नारी से घृणा नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसा है तो इसे हम पुरुष की कमजोरी कह सकते हैं। प्रो० शशिनाथ ने सुमन का ट्यूशन छोड़ कर अपनी कायरता का परिचय दिया है। इससे उनके जीवन का स्रोत ही बदल जाता है। उनके मस्तिष्क में लड़कों की बात 'चैटर्जी का ट्यूशन, हैं भाई', खलबली पैदा कर देती है और एकाएक उनका मन सुमन की ओर से फिर जाता है। वह सोचता है 'रमा को मैं धोखा नहीं दे सकता। पति-पत्नी के बीच विश्वासों की जो अत्यन्त कोमल, लचीली और बारीक डोर है मैं उसे तोड़ नहीं सकता।......सुमन का स्वार्थ वासना से पूरित है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो० शशिनाथ, सुमन के पारिवारिक

आत्मीयता के विशुद्ध प्रदर्शन को गलत समझ बैठे जिसके कारण वह कायर सिद्ध हुए। मनुष्य स्त्री-प्रेम का दूसरा ही भाव समझ लेता है जिसके कारण उसे औरों की दृष्टि में गिरना पड़ता है। शशिनाथ के पतन का भी यही कारण है। शशिनाथ ने भविष्य में स्त्रियों का टयूशन तो किया ही नहीं, युनिवर्सिटी से भी उन्हें पद-त्याग करना पड़ा। इस प्रकार लेखक ने मानवीय दुर्बलता का सफल चित्रण किया है।

लेखक ने सामयिक राजनीतिक विषयों को भी अपनाया है। नेहरू-लियाकत समझौता तथा अकाल पीड़ित लोगों के प्रति उसने सहानुभूति प्रकट की है। उपन्यास में इस प्रकार एकाएक वर्णन कुछ खटकता सा है। हिन्दू कोडबिल की भी चर्चा अप्रासंगिक ढंग से आगई है। 'अब कोडबिल का लोग व्यर्थ विरोध कर रहे हैं। पास हो जायगा तो नारी में समान अधिकार पाने की लालसा तो जागेगी।' उपन्यास का अन्त बहुत ही आकर्षक है। 'देह नैन बिन, रैन चन्द बिन, नारी पुरुष बिना.....' गाते गाते सुमन की वाणी में जो करुणा उभर उठती है उससे सब द्रवीभूत हो जाते हैं। सत्यता को लोगों ने पहिचाना। शशिनाथ तथा रमा के भ्रम का अवसान हुआ।

लेखक एक सफल उपन्यासकार है उसके विचार पूर्णरूप से सुलझे हुए हैं। भाषा सरल स्पष्ट एवं गतिशील है। कथोपकथन भी आकर्षक तथा मार्मिक है। लेखक का भविष्य उज्ज्वल है, इसमें सन्देह नहीं।

— कृष्णनारायणलाल, एम० ए०

कथा मंजरी लेखक—श्री कर्णवीर नागेश्वर राव (हिन्दी प्रचारक), प्रकाशक—आंध्र भारती प्रकाशन मंदिर, वेटापालेम, मूल्य १॥)

सामाजिक, ऐतिहासिक कहानियों का यह संग्रह दक्षिण भारत के हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों की हित-दृष्टि से प्रकाशित हुआ है। कथा मंजरी के लेखक वीर नागेश्वर राव जी कई भाषाओं के विद्वान् होने के साथ ही दक्षिण में हिन्दी भाषा के उन्नायकों में से हैं।

आपका यह प्रयत्न उत्तर को दक्षिण से जोड़ने की एक स्वर्ण शृंखला है। कहानियों में चेतना है, भावना है और मनोवैज्ञानिक स्पर्श भी हैं।

लेखक का यह प्रयत्न सराहनीय है।

— रूपनारायण

त्रिपुरी का कलचुरि वंश—ले० श्री चिन्तामणि हठेला 'मणि'। प्रकाशक—हठेला ग्रंथागार—हिन्दू समाज प्रेस, कीटगंज, प्रयाग। मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य त्रिपुरी के कलचुरि वंश का इतिहास प्रस्तुत कर कलाल (कलवार) जाति को क्षत्रिय सिद्ध करना है। लेखक ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है, वह सराहनीय और इतिहास के विद्यार्थियों के लिए उपादेय है।

वर्ण विभाग समाज की आवश्यकताओं से ही हुआ। जिस वर्ग ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जिस व्यवसाय को अपनाया वह उस वर्ण का समझा गया। कालान्तर में कर्म या व्यवसाय से विमुख होने पर भी जन्मना वर्ण व्यवस्था की परम्परा चलती रही। वर्ण गत ऊँच-नीच की भावना आधुनिक युग की देन है। वास्तविक रूप में सभी वर्ण विराट् समाज के अंग थे। परन्तु जिस युग में जिस प्रवृत्ति को समाज ने हेय या निन्द्य ठहराया उसको ही अपना इष्ट बना लेने वाला वर्ण अवश्य निन्द्य कहा गया। यही कारण है कि कलचुरि की एक शाखा अपनी मद्य प्रियता के कारण वर्ण श्रेष्ठता से जो उसको परम्परा से प्राप्त थी, जरा नीचे उतर आई और क्षत्रियत्व से भ्रष्ट हो गई। कलचुरि राज वंश की जिन शाखाओं का इस पुस्तक में उल्लेख है, उनमें से जैसलमेर, कपूरथला, पुदुक्कोट्टा, करौली और टिहरी-गढ़वाल राजवंश इस समय तक वर्तमान हैं। एक अन्यत्र प्रकाशित रिपोर्ट से ज्ञात हुआ है कि कपूरथला राजवंश समस्त कलचुरि अथवा कलाल जाति के लोगों के अत्यन्त निकट सम्पर्क में हैं। जो कलचुरि जाति के पुनरोत्कर्ष की स्पष्ट सूचना है।

लेखक ने अपने अतीत का स्मरण दिला कर इस वर्ग में जो चेतना और महत्ता लाने का प्रयत्न किया है उससे उस वर्ग का उपकार होगा ऐसा विश्वास है। इस वर्ग में आत्म विश्वास और गौरव की भावना लाने में यह पुस्तक सहायक हो यह लेखक की कामना है और राष्ट्र हित की दृष्टि से यह आवश्यक है।

— घनश्याम त्रिपाठी

सम्पादकीय

साहित्यकार, सरकार और संस्थाएँ

स्वराज्य का नेता राजनीतिज्ञ नही, साहित्यकार होता है। हमारे देश और सस्कृति की परम्परा यही रही है। राजनीति राष्ट्र के शरीर का रक्षण और सवर्द्धन करती है, साहित्य राष्ट्र की आत्मा का पोषण करता है। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि उसका नेतृत्व आज जिन लोगो के हाथ है वे इस सहज सत्य के अनुभव से शून्य है। विस्थापितो, हरिजनो, पिछडी जातियो मजूरो—मतलब सभी वर्गों की ओर सरकार का ध्यान गया है और यह उचित ही है किन्तु हमारा साहित्यकार आज भी पूर्ववत उपेक्षित है। जीवन के द्रष्टा और राष्ट्र की प्राणज्योति को जगाये रखने वाले आज पथ के भिखारी है। पत्रकारो का सघटन है, उनकी पूछ भी है क्योकि उनके द्वारा ही नेताओ की यश-पताका फहराई जाती है और उनकी वाणी का प्रचार होता है। पर भारती की अमर-सतति को न जनता देखती है न सरकार। जो पत्रकार बन्धु अपने अधिकारो के लिए इतना आन्दोलन करते है वे भी अपने लेखको के साथ न्याय करने में तत्पर नही। लेखको की रचनाओ के सम्बन्ध में पुराना 'कापी राइट ऐक्ट' इतना अनिश्चित और असम्बद्ध है कि आश्चर्य होता है। बडे बडे लेखको की रचनाएँ कौडियो के मोल बिक जाती है। कही से उनको आशा और भरोसा नही मिलता।

मै उन लोगो मे नही हूँ जो लेखको के लिए अनाथालय—जैसी चीजे खोलते—फिरते है। मै मृत्यु के समक्ष भी उनको हाथ फैलाते नही देख सकता। यही दृष्ट है कि वे सदा मृत्यु को अपनी रश हड्डियो की चुनौती देते रहे। पर ग्लानि यह देखकर होती है कि सरकार उन सनातन मूल्यो को न समझ पा रही है, न समझने का यत्न करती है जिन पर भारत की सस्कृति खडी है। उससे भी अधिक ग्लानि हमे यह देखकर होती है कि साहित्यकारो की सहायता, सरक्षण एव पोषण के लिए जो दो-एक सस्थाएँ उठ खडी हुई है और जिन्हे सरकार से भी सहायता प्राप्त है। वे केवल अपने विज्ञापन एव प्रचार तथा अपने कुछ सदस्यो के राजनीतिक उत्थान का साधन बन गई है। साहित्यकारो की सेवा नही उनके नाम पर बोलने का दावा करना मात्र उनका लक्ष्य है। रहा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सो उसका भी इधर कुछ ध्यान नही है।

समय आ गया है, सरकार चेते—कि राष्ट्र की आत्मा एव सस्कृति के मालियो के सहयोग बिना निर्माण निर्जीव निर्माण है, जनता चेते कि उसके प्रकाश का स्रोत व्यास-वाल्मीकि की सतति मे है जो चाणक्य की सतति में,—और साहित्यकार चेते कि राजनीतिज्ञो की ओर तृष्णापूर्ण दृष्टि से देखकर उन्होने अपने को कितना हीन बना दिया है—यह अनुभूति की उनकी हड्डियो की खाद से ही राष्ट्र की आत्मा साकार होगी।

इतना बस नहीं है !

केन्द्रीय सरकार का शिक्षा विभाग प्राय: ढोल पीटता है कि हिन्दी के लिये यह किया, जा रहा है, वह किया जा रहा है। हम मानते हैं, कुछ किया जरूर जा रहा है पर पैंतीस कोटि मानवता की राजभाषा के गौरव के अनुपात में वह क्या है, इस पर भी क्या सरकार ने कभी गंभीरता पूर्वक विचार किया है। आज हिन्दी इस या उस प्रान्त की ही नहीं रही; वह सबकी है। तब यह देखकर दुःख होता है कि जो निष्ठा उसके प्रति होनी चाहिए, वह नहीं है। यह दुःख इसलिये और बढ़ जाता है कि शिक्षा-विभाग के मंत्री मौलाना आजाद के होते हुए यह सब हो रहा है। वह अंग्रेजी को हटाने के पूर्ण पक्षपाती हैं। वे एक अत्यंत उच्चकोटि के साहित्य-शिल्पी हैं और भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास के उन क्षणों में भी वे अविचल रहे जब तूफान में बड़े-बड़े डिग गये। हमारा उनसे निवेदन है कि जो काम करना है उसे मनोयोग पूर्वक किया जाना चाहिए; उसमें कृपणता एव विवशता की स्थिति सभी के लिए दुखदायी है। हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य का प्रकाशन, साहित्यकारों का समादर, हिन्दी संस्थाओ को उदार साहाय्य तथा उनकी सम्मतियों का आदर यह सब केन्द्रीय शिक्षा विभाग की हिन्दी नीति के प्रमुख साधन होने चाहिए। सचल हिन्दी रंगमंच का संघटन भी इस कार्य में बड़ा सहायक हो सकता है। सरकार को कुछ चुने हुए हिन्दी ग्रंथो का अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में कराना चाहिए तथा साहित्यकारो के अन्तर्प्रान्तीय सम्मेलन करके उनके सहयोग का श्रेय लेना चाहिए।

संसद भवन में राष्ट्रभाषा का विरोध

पिछले दिनों संसद में रेलवे मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री के हिन्दी-भाषण पर विरोध करते हुए इस बात की आलोचना कुछ सदस्यों ने की है कि संसद भवन में आवश्यक कार्यवाही को हिन्दी के माध्यम से संचालित करना प्रजातंत्र के नियमों को भंग करना है। उक्त वक्तव्य के प्रवर्तकों में से कुछ मदरास और कुछ बंगाल के सदस्य हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रजातंत्र के उपयुक्त नहीं समझा है। अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए इस तरह के तार-स्वर बहुधा सुने गए हैं। कभी कभी हारी हुई मनोवृत्ति के लोग अपनी परछाईं से भी डरने लगते हैं और प्रकाश की प्रत्येक किरण से भयभीत होकर अन्धकार ही में चुप्पी साध कर बैठना चाहते हैं। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के विरोधियों को भी यदि इसी वर्ग में रखा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि जब बहुमत से एक भाषा को राष्ट्रभाषा मान लिया गया है तब संसद के प्रत्येक सदस्य को उसका स्वागत करना चाहिए। अन्यथा उसकी उपेक्षा करने वाले ही प्रजातंत्र के नियमों की अवहेलना करने वाले हैं। अंग्रेजी को प्रधानता देने वाली मनोवृत्ति 'सीखने के नाम पर' पीछे भागने वाली मनोवृत्ति है और अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि उनमें स्वतंत्र नागरिक की व्यवहार कुशलता का सर्वथा अभाव है। वैज्ञानिक रूप से हिन्दी भाषा को कोई भी व्यक्ति एक महीने में सीख सकता है और बोलने-लिखने में निपुण हो सकता है क्योंकि भाषा विज्ञान और लिपि विज्ञान के दृष्टिकोण से हिन्दी अन्य किसी भी संसार की भाषा से संतुलित और संयमित है, किन्तु इसको मान्यता न देकर जो लोग अपनी पुरानी डफली बजाते हैं उनको स्वतंत्र नागरिक का साधारण आचार भी नही मालूम है। इस दिशा में पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री लालबहादुर शास्त्री ने जो वक्तव्य दिए हैं और हिन्दी की मान्यता के विषय में जिस दृढ़ नीति का समर्थन किया है उसके

लिए हिन्दी जगत् उन्हें बधाई देता है। साथ ही संसद के सदस्यों को हिन्दी में शिक्षा देने के लिए जो अध्ययन शाला चलायी गयी है उससे हिन्दी विरोधी सदस्यों की कठिनाइयां शीघ्र ही दूर हो जायेंगी, यदि वे सचमुच उन्हें दूर करना चाहते हैं।

सांस्कृतिक मान्यताओं का उपहास

फिल्म व्यवसाय की वृद्धि जिस प्रगति से हो रही है, उससे यह आशा की जाती है कि कुछ दिनों में सारे देश में एक ऐसी परम्परा चल पड़ेगी जिसमें जीवन का दृष्टिकोण छिछला पड़ जायगा और दिन पर दिन बढ़ती हुई संस्कृति का ह्रास आने वाली पीढ़ियों को कायर और अशिष्ट बना देगा। इधर कुछ धार्मिक और सांस्कृतिक चित्रों का निर्माण ऐसे व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा किया गया है जिन्होंने पौराणिक कथाओं और सांस्कृतिक मान्यताओं को बहुत ही सस्ता और अनर्गल सिद्ध किया है। इन चित्रों को देख कर किसी भी शिक्षित व्यक्ति को क्षोभ होना स्वाभाविक ही होगा। महारथी अर्जुन, शिवशक्ति, हरिश्चन्द्र आदि चित्रों में मनमानी कल्पनायें की गई हैं और भारतीय जीवन की व्यापक मान्यताओं की अवहेलना करके नये कथानक, अश्लील दृश्य और बेढंगे गीतों का निरूपण किया गया है। यों तो कहने के लिए चित्रों के स्वस्थ निर्माण के लिए एक कागदी सेन्सर बोर्ड भी बना दिया गया है। लेकिन हमारा यह अनुमान है कि उनके सदस्य भारतीय संस्कृति और पौराणिक आख्यानों से अनभिज्ञ हैं। अथवा किसी कारण से वह उस पक्ष का प्रतिनिधित्व नही कर पा रहे हैं जिसका उपहास फिल्म कम्पनियां प्राय: करती रहती हैं, वैसे तो किसी भी अनर्गल बात को हम थोड़ी देर के लिए मौलिक मान सकते हैं लेकिन किसी ऐतिहासिक घटना, पौराणिक आख्यान और सांस्कृतिक मान्यता के प्रति अनावश्यक मौलिकता को हम सांस्कृतिक मान्यताओं की हत्या के [illegible] कुछ भी नहीं कह सकते।

सरकार और फिल्म मर्मज्ञों को कम से [illegible] के चित्रों के निर्माण में सतर्कता से काम लेना चाहिए। साथ ही हम आशा करते है, कि भारतीय सरकार हमारे निम्नांकित सुझावों पर विचार करेगी।

(१) सेन्सर बोर्ड में केवल फिल्म सम्बन्धी सदस्यों को नियुक्त न किया जाय। उसमें देश के सांस्कृतिक विद्वानों में से एक या दो को स्थान दिया जाय और उनको यह अधिकार हो कि वह किसी भी चित्र को प्रसारित होने से रोक सकें।

(२) सेन्सर बोर्ड को प्रामाणिक संस्थाओं एवं सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कहानियों को चित्रित करने का अधिकार तभी देना चाहिए जब बोर्ड के सदस्य उसकी पाण्डुलिपि और कथानक से पूर्णत: सन्तुष्ट हो जायं।

(३) साहित्यिक व्यक्तियों में से एक प्रतिनिधि अवश्य रखा जाय जिससे भाषा की भोंड़ी गलतियां अश्लील प्रयोग और भद्दे गीत रोके जा सकें और बाजारू भाषा का विकृत रूप जन-रुचि को फूहड़ न बना सके।

(४) रोमेण्टिक चित्रों में स्वस्थ रोमान्स का ही प्रदर्शन होना चाहिए। मनमाने अश्लील और अप्राकृतिक रोमान्सों की निन्दा करके उनको समूल नष्ट करना चाहिए, अन्यथा यह फैला हुआ विष सारे युवक समाज को ले डूबेगा।

कमीशन दरों में परिवर्तन

पाठ्य पुस्तको पर पच्चीस रुपये मूल्य से नीचे कोई कमीशन नही दिया जायगा। २५) रुपये से ऊपर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। अन्य साधारण पुस्तको पर पुस्तकालयो तथा पुस्तक-विक्रेताओ को ५) से ऊपर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

साधारण ग्राहको को इन पुस्तको पर २५) से ऊपर केवल २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

सम्मेलन की परीक्षाओ के परीक्षको तथा सम्मेलन के अधिकृत उपाधिधारियो को सामान्य पुस्तकें २५ प्रतिशत कमीशन पर दी जायँगी।

५००) से ऊपर मूल्य की पुस्तको का रेलवे व्यय सम्मेलन वहन करेगा।

जो पुस्तक विक्रेता वर्षभर में सम्मेलन के प्रकाशनो की १०,०००) तक की बिक्री करगे, उन्ह ५ प्रतिशत अतिरिक्त कमीशन और ५,००१) तक के आर्डरो पर २॥) प्रतिशत अतिरिक्त कमीशन दिया जायगा।

चौथाई रकम मनीआर्डर

द्वारा

ी प्रकाशन

कोष

षेच

मे

ी वैज्ञानिक रूपरेखा

नुवाद)

याग